पुस्तक मिलने का पता—
श्रीआत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मंडल
रोशन मोहल्ला, आगरा.

Raja Bejoy Sing Dudhoria of Azimganj.

ग्रन्थ-क्रम.

* सूचना *

इस पुस्तक के आरम्भ में जिन महानुभाव का फोटो है वे जैनसमाज के श्रीमानों में से एक हैं। वे आजीमगंज के प्रतिष्ठित रईस हैं। कर्मग्रन्थ के इस अनुवाद में उनकी उदारता का उपयोग किया गया है। एतदर्थ हम उन्हें धन्यवाद देते हैं। आगे के कर्मग्रन्थों के अनुवाद तैयार हो रहे हैं तथा छप भी रहे हैं। इस लिये जो, भगवान् महावीर की वाणी के उपासक अपनी चञ्चल लक्ष्मी का सदुपयोग करना चाहें वह हमें सूचना देवें जिससे कि पवित्र ग्रन्थों के सर्वप्रिय अनुवाद-कार्य में उन की लक्ष्मी का उपयोग किया जावे। इस का मूल्य लागत से भी कुछ कम ही रक्खा गया है। कागज, छपाई आदि सब वस्तुओं की अति अधिक महँगी के कारण खर्च अधिक होता है। हमारा उद्देश सस्ते में धार्मिक साहित्य का प्रचार करना है। जहाँ तक संभव है हम अपने उद्देश की ओर पूर्ण लक्ष देते हैं।

श्रीआत्मानंद जैन पुस्तक प्रचारक मंडल रोशन मोहल्ला आगरा.

आप का—
मंत्री.

निवेदन ।

पाठक ! यह दूसरे कर्मग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद मूल तथा छाया सहित आपकी सेवामें उपस्थित किया जाता है। पहिले कर्मग्रन्थ के बाद दूसरे कर्मग्रन्थ का अध्ययन परमावश्यक है। क्योंकि इस के बिना पढ़े तीसरा आदि अगले कर्मग्रन्थोंमें तथा कम्मपयडी, पञ्चसंग्रह आदि आकर ग्रन्थों में प्रवेश ही नहीं किया जा सकता। इस लिये इस कर्मग्रन्थ का भी महत्त्व बहुत अधिक है। यद्यपि इस कर्मग्रन्थ की मूल गाथायें सिर्फ़ चौंतीस ही हैं तथापि इतने में प्रचुर विषय का समावेश ग्रन्थकार ने किया है। अत एव परिमाण में ग्रन्थ बडा न होने पर भी विषय में बहुत गंभीर तथा विचारणीय है।

इस अनुवाद के आरंभ में एक प्रस्तावना दी हुई है जिस में दूसरे कर्मग्रन्थ की रचना का उद्देश्य, विषय-वर्णन-शैली, विषय-विभाग, 'कर्मस्तव' नाम रखने का अभिप्राय इत्यादि विषय, जिन का सम्बन्ध दूसरे कर्मग्रन्थसे है, उन पर थोडा, पर आवश्यक विचार किया गया है। पीछे गुणस्थान के सामान्य स्वरूपके सम्बन्ध में संक्षिप्त विचार प्रगट किये गये हैं। बाद विषयसूची दी गई है, जिससे ग्रन्थके विषय, गाथा और पृष्ठ वार मालूम हो सकते हैं। अनन्तर शुद्धिपत्र है। तत्पश्चात् मूल, छाया, हिंदी अर्थ तथा भावार्थ सहित 'कर्मस्तव' नामक

दूसरा कर्मग्रन्थ है। इस में योग्यस्थानों में यन्त्र—नकशे—भी दिये गये हैं। इस के बाद एक परिशिष्ट है जिस में श्वेताम्बरीय-दिगम्बरीय कर्मविषयक साहित्य के कुछ समान तथा असमान बातें उल्लिखित की हुई हैं। परिशिष्ट के बाद कोश दिया गया है. जिस में मूल दूसरे कर्मग्रंथके शब्द, अकारादि क्रमसे देकर उनकी छाया तथा हिंदी अर्थ दिया गया है। अंत में गाथायें हैं, जो मूल मात्र याद करने वालों के लिये या उसे देखने वालों के लिये विशेष उपयोगी हैं।

यदि इस ग्रन्थके अनुवाद में कोई त्रुटि रह गई हो तो विशेषदर्शी पाठकों से हम अनुरोध करते हैं कि वे कृपया उस की सूचना देवें ताकि दूसरी आवृत्ति में संशोधन किया जा सके

निवेदक—

वीरपुत्र.

प्रस्तावना ।

ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य ।

'कर्मविपाक' नामक प्रथम कर्मग्रन्थ में कर्म की मूल तथा उत्तर प्रकृतियों का वर्णन किया गया है। उस में बन्ध-योग्य, उदय-उदीरणा-योग्य और सत्तायोग्य प्रकृतियों की जुदी जुदी संख्या भी दिखलाई गई है। अब उन प्रकृतियों के बन्ध की उदय-उदीरणा की और सत्ताकी योग्यता को दिखाने की, आवश्यकता है। सो इसी आवश्यकता को पूरा करने के उद्देश्य से इस दूसरे कर्मग्रन्थ की रचना हुई है।

विषय-वर्णन-शैली ।

संसारी जीव गिनती में अनन्त हैं। इसलिए उनमें से एक एक व्यक्ति का निर्देश करके उन सब की बन्धादि-सम्बन्धिनी योग्यता को दिखाना असंभव है। इसके अतिरिक्त

एक व्यक्ति में बन्धादि-सम्बन्धिनी योग्यता भी सदा एकसी नहीं रहती; क्योंकि परिणाम व विचार के बदलते रहने के कारण बन्धादि-विषयक योग्यता भी प्रतिसमय बदला करती है। अतएव आत्मदर्शी शास्त्रकारों ने देहधारी जीवों के १४ वर्ग किये हैं। यह वर्गीकरण, उनकी आभ्यन्तर शुद्धिकी उत्क्रान्ति–अपक्रान्ति के आधार पर किया गया है। इसी वर्गीकरण को शास्त्रीय परिभाषा में 'गुणस्थान-क्रम' कहते हैं। गुणस्थान का यह क्रम, ऐसा है कि जिसके १४ विभागों में सभी देहधारी जीवों का समावेश हो जाता है जिससे कि अनन्त देहधारिओं की बन्धादि-सम्बन्धिनी योग्यता को १४ विभागों के द्वारा बतलाना सहज हो जाता है और एक जीव-व्यक्ति की योग्यता—जो प्रतिसमय बदला करती है—उसका भी प्रदर्शन किसी न किसी विभाग के द्वारा किया जा सकता है। संसारी जीवों की आन्तरिक शुद्धि के तरतम भावकी पूरी वैज्ञानिक जाँच करके गुणस्थान-क्रम की घटना की गई है। इससे यह बतलाना या समझना सहज हो गया है कि अमुक प्रकार की आन्तरिक अशुद्धि या शुद्धिवाला जीव, इतनी ही प्रकृतियों के बन्ध का, उदय-उदीरणा का और सत्ता का अधिकारी हो सकता है। इस कर्म-ग्रन्थ में उक्त गुणस्थान-क्रम के आधार से ही जीवों की बन्धादि–सम्बन्धिनी योग्यता को बतलाया है। यही इस ग्रन्थ की विषय-वर्णन-शैली है।

विषय-विभाग।

इस ग्रन्थ के विषय के मुख्य चार विभाग हैं (१) बन्धाधिकार, (२) उदयाधिकार, (३) उदीरणाधिकार और (४) सत्ताधिकार। बन्धाधिकार में गुणस्थान-क्रम को लेकर

प्रत्येक गुणस्थान-वर्ती जीवों की बन्ध-योग्यता को दिखाया है। इसी प्रकार उदयाधिकार में, उनकी उदय-सम्बन्धिनी योग्यता को, उदीरणाधिकार में उदीरणा-सम्बन्धिनी योग्यता को और सत्ताधिकार में सत्ता-सम्बन्धिनी योग्यता को दिखाया है। उक्त ४ अधिकारों की घटना, जिस वस्तु पर की गई है, उस वस्तु—गुणस्थान-क्रम—का नाम-निर्देश भी ग्रन्थ के आरम्भ में ही कर दिया गया है। अतएव, इस ग्रन्थ का विषय, पाँच भागों में विभाजित हो गया है। सब से पहले, गुणस्थान-क्रम का निर्देश और पीछे क्रमशः पूर्वोक्त चार अधिकार।

'कर्मस्तव' नाम रखने का अभिप्राय।

'आध्यात्मिक विद्वानों की दृष्टि, सभी प्रवृत्तियों में आत्मा की ओर रहती है। वे, करें कुछ भी पर उस समय अपने सामने एक ऐसा आदर्श उपस्थित किये होते हैं कि जिससे उन के आध्यात्मिक महत्त्वाभिलाष पर जगत् के आकर्षण का कुछ भी असर नहीं होता। उन लोगों का अटल विश्वास होता है कि 'ठीक ठीक लक्षित दिशा की ओर जो जहाज चलता है वह, बहुत कर विघ्न-बाधाओं का शिकार नहीं होता।' यह विश्वास, कर्मग्रन्थ के रचयिता आचार्य में भी था। इस से उन्हों ने ग्रन्थ-रचना-विषयक प्रवृत्ति के समय भी महान् आदर्श को अपनी नज़र के सामने रखना चाहा। ग्रन्थकार की दृष्टि में आदर्श थे भगवान् महावीर। भगवान् महावीर के जिस कर्मक्षयरूप असाधारण गुण पर ग्रन्थकार मुग्ध हुए थे उस गुण को उन्होंने अपनी कृति द्वारा दर्साना चाहा। इसलिए प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना उन्होंने अपने आदर्श भगवान् महावीर की स्तुति के बहाने से की है। इस ग्रन्थ में मुख्य

वर्णन, कर्म के बन्धादि का है, पर वह किया गया है स्तुति के बहाने से। अतएव, प्रस्तुत ग्रन्थ का अर्थानुरूप नाम 'कर्म-स्तव' रखा गया है।

ग्रन्थ-रचना का आधार।

इस ग्रन्थ की रचना 'प्राचीन कर्मस्तव' नामक दूसरे कर्म ग्रन्थ के आधार पर हुई है। उसका और इस का विषय एक ही है। भेद इतना ही है कि इस का परिमाण, प्राचीन कर्मग्रन्थ से अल्प है। प्राचीनमें ५५ गाथाएँ हैं, पर इसमें ३४। जो बात प्राचीन में कुछ विस्तार से कही है उसे इसमें परिमित शब्दों के द्वारा कह दिया है। यद्यपि व्यवहार में प्राचीन कर्मग्रन्थ का नाम, 'कर्मस्तव' है, पर उसके आरंभ की गाथा से स्पष्ट जान पड़ता है कि उसका असली नाम, 'बन्धोदयसत्त्व-युक्त स्तव' है। यथाः—

नमिऊण जिणवरिंदे तिहुयणवरनाणदंसणपईवे।
बंधुदयसंतजुत्तं वोच्छामि थयं निसामेह ॥१॥

प्राचीन के आधार से बनाये गये इस कर्मग्रन्थ का 'कर्मस्तव' नाम कर्ता ने इस ग्रन्थ के किसी भाग में उल्लिखित नहीं किया है, तथापि इसका 'कर्मस्तव' नाम होने में कोई संदेह नहीं है। क्योंकि इसी ग्रन्थ के कर्ता श्री देवेन्द्रसूरि ने अपने रचे तीसरे कर्मग्रन्थ के अन्त में 'नेयं कम्मत्थयं सोउं' इस अंश से उस नाम का कथन कर ही दिया है।

'स्तव' शब्द के पूर्व में 'बन्धोदयसत्त्व' या 'कर्म' कोई भी

शब्द रखा जाय, मतलब एक ही है। परन्तु इस जगह इसकी चर्चा, केवल इसीलिए की गई है कि प्राचीन दूसरे कर्मग्रन्थ के और गोम्मटसार के दूसरे प्रकरण के नाम में कुछ भी फ़र्क नहीं है। यह नाम की एकता, श्वेतांबर-दिगंबर आचार्यों के ग्रन्थ-रचना-विषयक पारस्परिक अनुकरण का पूरा प्रमाण है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि नाम सर्वथा समान होने पर भी गोम्मटसार में तो 'स्तव' शब्द की व्याख्या बिलकुल विलक्षण है, पर प्राचीन द्वितीय कर्मग्रन्थ में तथा उसकी टीका में 'स्तव' शब्द के उस विलक्षण अर्थ की कुछ भी सूचना नहीं है। इस से यह जान पड़ता है कि यदि गोम्मटसार के बन्धोदयसत्त्व-युक्त नाम का आश्रय लेकर प्राचीन द्वितीय कर्मग्रन्थ का वह नाम रखा गया होता तो उसका विलक्षण अर्थ भी इस में स्थान पाता। इससे यह कहना पड़ता है कि प्राचीन द्वितीय कर्मग्रन्थ की रचना, गोम्मटसार से पूर्व हुई होगी। गोम्मटसार की रचना का समय, विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी बतलाया जाता है। प्राचीन द्वितीय कर्मग्रन्थ की रचना का समय तथा उसके कर्ता का नाम आदि ज्ञात नहीं। परन्तु उसकी टीका करने वाले श्री गोविन्दाचार्य हैं जो श्री देवनाग के शिष्य थे। श्री गोविन्दाचार्य का समय भी संदेह की तह में छिपा है पर उनकी बनाई हुई टीका की प्रति-जो वि० सं० १२८८ में ताडपत्र पर लिखी हुई है-मिलती है। इस से यह निश्चित है कि उन का समय, वि० सं० १२८८ से पहले होना चाहिए। यदि अनुमान से टीकाकार का समय १२ वीं शताब्दी माना जाय तो भी यह अनुमान करने में कोई आपत्ति नहीं कि मूल द्वितीय कर्मग्रन्थ की रचना उससे सौ-दोसौ वर्ष पहले

ही होनी चाहिए। इससे यह हो सकता है कि कदाचित् उस द्वितीय कर्मग्रन्थ का ही नाम गोम्मटसार में लिया गया हो और स्वतंत्रता दिखाने के लिए 'स्तव' शब्द की व्याख्या बिलकुल बदल दी गई हो। अस्तु, इस विषय में कुछ भी निश्चित कहना साहस है। यह अनुमान-सृष्टि, वर्तमान लेखकों की शैली का अनुकरण मात्र है। इस नवीन द्वितीय कर्मग्रन्थ के प्रणेता श्रीदेवेन्द्रसूरि का समय आदि पहले कर्म-ग्रन्थ की प्रस्तावना से जान लेना।

गोम्मटसार में 'स्तव' शब्द का साङ्केतिक अर्थ

इस कर्मग्रन्थ में गुणस्थान को लेकर बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता का विचार किया है वैसे ही गोम्मटसार में भी किया है। इस कर्मग्रन्थ का नाम तो 'कर्मस्तव' है पर गोम्मटसार के उस प्रकरण का नाम 'बन्धोदयसत्त्व-युक्त-स्तव' जो "बन्धुदयसत्तजुत्तं ओघादेसे थवं वोच्छं" इस कथन से सिद्ध है (गो. कर्म गा. ८७)। दोनों नामों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। क्योंकि कर्मस्तव में जो 'कर्म' शब्द है, उसी की जगह 'बन्धोदयसत्त्वयुक्त' शब्द रखा गया है। परन्तु 'स्तव' शब्द दोनों नामों में समान होने पर भी, उस के अर्थ में बिलकुल भिन्नता है। 'कर्मस्तव' में 'स्तव' शब्द का मतलब स्तुति से है जो सर्वत्र प्रसिद्ध ही है, पर गोम्मटसार में 'स्तव' शब्द का स्तुति अर्थ न करके खास सांकेतिक अर्थ किया गया है। इसी प्रकार उसमें 'स्तुति' शब्द का भी पारि-भाषिक अर्थ किया है जो और कहीं दृष्टि-गोचर नहीं होता। जैसे:—

सयलंगेक्कंगेक्कंगहियार सवित्थरं ससंखेवं ।
वण्णणसत्थं थयथुइधम्मकहा होइ णियमेण ॥

(गो. कर्म. गा. ८८)

अर्थात् किसी विषय के समस्त अंगों का विस्तार या संक्षेप से वर्णन करनेवाला शास्त्र 'स्तव' कहाता है। एक अंग का विस्तार या संक्षेप से वर्णन करनेवाला शास्त्र 'स्तुति' और एक अंग के किसी अधिकार का वर्णन जिसमें है वह शास्त्र 'धर्मकथा' कहाता है।

इस प्रकार विषय और नामकरण दोनों तुल्यप्राय होने पर भी नामार्थ में जो भेद पाया जाता है, वह सम्प्रदाय-भेद तथा ग्रन्थ-रचना-सम्बन्धी देश-काल के भेद का परिणाम जान पड़ता है।

गुणस्थान का संक्षिप्त सामान्य-स्वरूप।

आत्मा की अवस्था किसी समय अज्ञान-पूर्ण होती है। वह अवस्था सब से प्रथम होने के कारण निकृष्ट है। उस अवस्था से आत्मा अपने स्वाभाविक चेतना, चारित्र आदि गुणों के विकास की बदौलत निकलता है, और धीरे धीरे उन शक्तियों के विकास के अनुसार उत्क्रान्ति करता हुआ विकास की पूर्णकला—अन्तिम हद—को पहुँच जाता है। पहली निकृष्ट अवस्था से निकल कर, विकास की आखरी भूमि को पाना ही आत्मा का परम साध्य है। इस परम साध्य की सिद्धि होने तक आत्मा को एक के बाद दूसरी, दूसरी के

बाद तीसरी ऐसी क्रमिक अनेक अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है। इन्हीं अवस्थाओं की श्रेणि को 'विकास-क्रम' या 'उत्क्रान्ति-मार्ग' कहते हैं; और जैनशास्त्रीय परिभाषा में उसे 'गुणस्थान-क्रम' कहते हैं। इस विकास-क्रम के समय होने-वाली आत्मा की भिन्न भिन्न अवस्थाओं का संक्षेप, १४ भागों में कर दिया गया है। ये १४ भाग, गुणस्थान के नाम से प्रसिद्ध हैं। दिगम्बर-साहित्य में 'गुणस्थान' अर्थ में संक्षेप, ओघ, सामान्य और जीवसमास शब्दों का भी प्रयोग देखा जाता है। १४ गुणस्थानों में प्रथम की अपेक्षा दूसरा, दूसरे की अपेक्षा तीसरा—इस प्रकार पूर्व-पूर्ववर्ती गुणस्थान की अपेक्षा पर-परवर्ती गुणस्थान में विकास की मात्रा अधिक रहती है। विकास की न्यूनाधिकता का निर्णय आत्मिक स्थिरता की न्यूनाधिकता पर अवलम्बित है। स्थिरता, समाधि, अन्तर्दृष्टि, स्वभाव-रमण, स्वोन्मुखता—इन सब शब्दों का मतलब एक ही है। स्थिरता का तारतम्य दर्शन और चारित्र-शक्ति की शुद्धि के तारतम्य पर निर्भर है। दर्शन-शक्ति का जितना अधिक विकास, जितनी अधिक निर्मलता उतना ही अधिक आविर्भाव सद्विश्वास, सद्रुचि, सद्भक्ति, सत्श्रद्धा या सत्याग्रह का समझिये। दर्शन-शक्ति के विका-स के बाद चारित्र-शक्ति के विकास का नम्बर आता है। जित-ना जितना चारित्र-शक्ति का अधिक विकास उतना उतना अधिक आविर्भाव क्षमा, संतोष, गाम्भीर्य इन्द्रिय-जय आदि चारित्र-गुणों का होता है। जैसे जैसे दर्शन-शक्ति व चारित्र-शक्ति की विशुद्धि बढ़ती जाती है, तैसे तैसे स्थिरता की मात्रा भी अधिक अधिक होती जाती है। दर्शन व चारित्र-शक्ति की विशुद्धि का बढ़ना-घटना, उन शक्तियों के प्रति-

बन्धक (रोकनेवाले) संस्कारों की न्यूनता-अधिकता या मन्दता-तीव्रता पर अवलम्बित है। प्रथम तीन गुणस्थानों में दर्शन-शक्ति व चारित्र-शक्ति का विकास इसलिये नहीं होता कि उनमें उन शक्तियों के प्रतिबन्धक संस्कारों की अधिकता या तीव्रता है। चतुर्थ आदि गुणस्थानों में वे ही प्रतिबन्धक संस्कार कम (मन्द) हो जाते हैं; इससे उन गुणस्थानों में शक्तियों का विकास आरम्भ हो जाता है।

इन प्रतिबन्धक (कषाय) संस्कारों के स्थूल दृष्टि से ४ विभाग किये हैं। ये विभाग उन काषायिक संस्कारों की विपाक-शक्ति के तरतम-भाव पर आश्रित हैं। उनमें से पहला विभाग—जो दर्शन-शक्ति का प्रतिबन्धक है—उसे दर्शनमोह तथा अनन्तानुबन्धी कहते हैं। शेष तीन विभाग चारित्र-शक्ति के प्रतिबन्धक हैं। उनको यथाक्रम अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन कहते हैं।

प्रथम विभाग की तीव्रता, न्यूनाधिक प्रमाण में तीन गुणस्थानों (भूमिकाओं) तक रहती है। इस से पहले तीन गुणस्थानों में दर्शन-शक्ति के आविर्भाव का सम्भव नहीं होता। कषाय के उक्त प्रथम विभाग की अल्पता, मन्दता या अभाव होते ही दर्शन-शक्ति व्यक्त होती है। इसी समय आत्मा की दृष्टि खुल जाती है। दृष्टि के इस उन्मेष को विवेक-ख्याति, भेदज्ञान, प्रकृति-पुरुषान्यता-साक्षात्कार और ब्रह्म-ज्ञान भी कहते हैं।

इसी शुद्ध दृष्टि से आत्मा जड-चेतन का भेद, असंदिग्ध-रूप से जान लेता है। यह उसके विकास-क्रम की चौथी भूमिका है। इसी भूमिका से वह अन्तर्दृष्टि बन जाता है, और आत्म-मंदिर में वर्तमान तात्त्विक परमात्म-स्वरूप को देखता है। पहले की तीन भूमिकाओं में दर्शनमोह और अनन्तानु-

बन्धी नाम के कषाय संस्कारों की प्रबलता के कारण आत्मा अपने परमात्म-भाव को देख नहीं सकता। उस समय वह बहिर्दृष्टि होता है। दर्शनमोह आदि संस्कारों के वेग के कारण उस समय उसकी दृष्टि, इतनी अस्थिर व चंचल बन जाती है कि जिससे वह अपने में ही वर्तमान परमात्म-स्वरूप या ईश्वरत्व को देख नहीं सकता। ईश्वरत्व भीतर ही है, परन्तु है वह अत्यन्त सूक्ष्म; इसलिये स्थिर व निर्मल दृष्टि के द्वारा ही उसका दर्शन किया जा सकता है। चौथी भूमिका या चौथे गुणस्थान को परमात्म-भाव के या ईश्वरत्व के दर्शन का द्वार कहना चाहिये। और उतनी हद तक पहुँचे हुये आत्मा को अन्तरात्मा कहना चाहिये। इसके विपरीत, पहली तीन भूमिकाओं में वर्तने के समय, आत्मा को बहिरात्मा कहना चाहिये। क्योंकि वह उस समय बाहरी वस्तुओं में ही आत्मत्व की भ्रान्ति से इधर उधर दौड़ लगाया करता है। चौथी भूमिका में दर्शनमोह तथा अनन्तानुबन्धी संस्कारों का वेग तो नहीं रहता, पर चारित्र-शक्ति के आवरण-भूत संस्कारों का वेग अवश्य रहता है। उनमें से अप्रत्याख्यानावरण संस्कार का वेग चौथी भूमिका से आगे नहीं होता इससे पाँचवीं भूमिका में चारित्र-शक्ति का प्राथमिक विकास होता है; जिससे उस समय आत्मा, इन्द्रिय-जय, यम-नियम आदि को थोड़े बहुत रूपमें करता है—थोड़े बहुत नियम पालने के लिये सहिष्णु हो जाता है। प्रत्याख्यानावरण नामक संस्कार—जिनका वेग पाँचवीं भूमिका से आगे नहीं है—उन का प्रभाव घटते ही चारित्र-शक्ति का विकास और भी बढ़ता है, जिससे आत्मा बाहरी भोगों से हटकर पूरा संन्यासी बन जाता है। यह हुई विकास की छट्ठी भूमिका। इस भूमिका में भी चारित्र-शक्ति के विपक्षी 'संज्वलन' नाम के संस्कार कभी कभी ऊधम मचाते हैं, जिससे चारित्र-शक्ति का

विकास दबना तो नहीं, पर उसकी शुद्धि या स्थिरता में अन्तराय इस प्रकार आते हैं, जिस प्रकार वायु के वेग के कारण, दिये की ज्योति की स्थिरता व अधिकता में। आत्मा जब 'संज्वलन' नामके संस्कारों को दबाता है, तब उत्क्रान्तिपथ की सातवीं आदि भूमिकाओं को लाँघकर ग्यारहवीं बारहवीं भूमिका तक पहुँच जाता है। बारहवीं भूमिका में दर्शन-शक्ति व चारित्र-शक्ति के विपक्षी संस्कार सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, जिससे उक्त दोनों शक्तियाँ पूर्ण विकसित हो जाती हैं। तथापि उस अवस्था में शरीर का सम्बन्ध रहने के कारण आत्मा की स्थिरता परिपूर्ण होने नहीं पाती। वह चौदहवीं भूमिका में सर्वथा पूर्ण बन जाती है और शरीर का वियोग होने के बाद वह स्थिरता, वह चारित्र-शक्ति अपने यथार्थ-रूपमें विकासित होकर सदा के लिये एकसी रहती है। इसी को मोक्ष कहते हैं। मोक्ष कहीं बाहर से नहीं आता। वह आत्मा की समग्र शक्तियों का परिपूर्ण व्यक्त होना मात्र है—

मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति न ग्रामान्तरमेव च।
अज्ञान-हृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः॥
(शिवगीता—१३-३२)

यह विकास की पराकाष्ठा, यह परमात्म-भाव का अभेद, यह चौथी भूमिका (गुणस्थान) में देखे हुये ईश्वरत्व का तादात्म्य, यह वदान्तियों का ब्रह्म-भाव, यह जीव का शिव होना, और यही उत्क्रान्ति-मार्ग का अन्तिम साध्य। इसी साध्य तक पहुँचने के लिये आत्मा को विरोधी संस्कारों के साथ लड़ते झगड़ते, उन्हें दबाते, उत्क्रान्ति-मार्ग की जिन जिन भूमिकाओं पर आना पड़ता है, उन भूमिकाओं के क्रम को ही 'गुणस्थान क्रम' समझना चाहिये। यह तो हुआ गुणस्थानों का सामान्य स्वरूप। उन सब का विशेष स्वरूप थोड़े बहुत विस्तार की साथ इसी कर्मग्रन्थ की दूसरी गाथा की व्याख्या में लिख दिया गया है।

निवेदक—वीर.

दूसरे कर्मग्रन्थ की विषय-सूची।

उदीरणाधिकार—३

सत्ताधिकार—४

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ.	पं०	अशुद्धि.	शुद्धि.
१	१	कंमाइं	कम्माइं
२	६	अवाधा	बाधा
२	१६	खींचं	खींच
३	५	संक्रमण	संक्रमणकरण
३	२१	मिथ्यात्वास०	मिथ्यात्वसा०
३	२२	निवृत्यनिवृति	निवृत्त्यनिवृत्ति
४	११	विशेष को	विशेषों को
,,	,,	भिन्न	भिन्न भिन्न
४	१७	अशुद्धि तथा अशुद्धि से।	अशुद्धि बढ़ जाती है यद्यपि शुद्धि तथा अशुद्धि से
६	८	मिथ्यात्व	मिथ्यात्वी
७	६	सहते	सहते सहते
७	१२	रेशम की	बाँस की
७	२०	ग्रन्थि की	ग्रन्थि को
८	७	अर्शात्	अर्थात्
,,	१३	अन्तःकरणकी क्रिया शुद्ध	अन्तरकरणकी क्रिया शुरू
,,	१४	अन्तःकरण की	अन्तरकरण की
,,	२०	,,	,,
६	७	जा	जो
१०	६	जीव को	जीव को
१४	६	ग्नायिक	क्षायिक
१५	२३	:	।

पृ०	पं०	अशुद्धि.	शुद्धि.
१६	२६	अध्यवसायों का	अध्यवसायों का और दूसरा वर्ग उत्कृष्ट अध्यवसायों का
१३	१४	भिन्न ही होते हैं,	भिन्न ही होते हैं तथा प्रथम समय के जघन्य अध्यवसायों से प्रथम समय के उत्कृष्ट अध्यवसाय अनंतगुण विशुद्ध
१७	१७	समझने चाहिए	समझने चाहिए और प्रत्येक समय के जघन्य अध्यवसाय से तत्समयक उत्कृष्ट अध्यवसाय अनन्त-गुण विशुद्ध
१८	१६	पूर्व	पूर्व
२२	१०	सिवा	सिवा
३०	१६	तीसरे	३
३२	१३	स्वाभाविक	स्वाभाविक
३३	५	द्यपि	यद्यपि
३६	२२	४	५
३८	१७	दुःस्वर	दुःस्वर
,,	२५	बाच	बीच
३६	,,	पमते	पमत्ते
४६	१	शेष	शेष २२

पृ०	पं०	अशुद्धि.	शुद्धि.
४७	१०	५६	५८
४६	१७	कारण	कारणों
५१	१	ओ ३ म	ॐ
५३	१२	सप्ताशितिर्देशे	सप्ताशीतिर्देशे
,,	१५	एकाशितिः	एकाशीतिः
५४	६	गुणस्थान	गुणस्थान में
५६	५	क	के
५६	६.	सम्यक्त्व	सासादनसम्यक्त्व
,,	१६	कर्म०	११७ कर्म०
,,	१७	शेष	शेष १११
,,	२७	उदय चतुरिन्द्रिय पर्यन्त	उदय चतुरिन्द्रियों को होता है परन्तु एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय पर्यन्त
६२	७	—	अर्थ—
,,	१८	१८	॥१८॥
६५	५	अतएव बारहवें	बारहवें
६६	२०	अगुर०	अगुरु०
७६	१६	लोहिनामतकर्म	लोहितनामकर्म
७६	६	सम्यक्त्वी	सम्यक्त्वी
८१	२	,,	,,
८१	१६	चरिममेंगसओ	चरिमेगसओ
८२	१४	आनुपूर्वी	आनुपूर्वी
८८	२३	ऐक	एक

ॐ

कर्मस्तवनामक दूसरा कर्मग्रन्थ।

बन्धाधिकार।

तह थुणिमो वीरजिणं जह गुणठाणेसु सयलकंमाइं।
वन्धुदओदीरणयासत्तापत्ताणि खवियाणि ॥ १ ॥

(तथा स्तुमो वीरजिनं यथा गुणस्थानेषु सकलकर्माणि।
वन्धोदयोदीरणासत्ताप्राप्तानि क्षपितानि ॥ १ ॥)

अर्थ—गुणस्थानों में वन्धको, उदय को, उदीरणा को और सत्ता को प्राप्त हुये सभी कर्मों का क्षय जिस प्रकार भगवान् वीर ने किया, उसी प्रकार से उस परमात्मा की स्तुति हम करते हैं।

भावार्थ—असाधारण और वास्तविक गुणों का कथन ही स्तुति कहलाती है। सकल कर्मों का नाश यह भगवान् का असाधारण और यथार्थ गुण है, इससे उस गुण का कथन करना यही स्तुति है।

मिथ्यात्वआदि निमित्तों से ज्ञानावरणआदि रूप में परिणत होकर कर्म पुद्गलों का आत्मा के साथ दूध पानी के समान मिलजाना, उसे "बंध" कहते हैं।

उदय काल आने पर कर्मों के शुभाशुभ फल का भोगना, "उदय" कहलाता है।

[अवाधा काल व्यतीत हो चुकने पर जिस समय कर्मके फल का अनुभव होता है, उस समय को "उदयकाल" समझना चाहिये।

वन्धे हुये कर्म से जितने समय तक आत्मा को अवाधा नहीं होती–अर्थात् शुभाशुभ-फल का वेदन नहीं होता उतने समय को "अवाधा काल" समझना चाहिये।

सभी कर्मों का अवाधा काल अपनी अपनी स्थिति के अनुसार जुदा जुदा होता है। कभी तो वह अवाधा काल स्वाभाविक क्रमसे ही व्यतीत होता है, और कभी अपवर्तना करण से जल्द पूरा होजाता है।

जिस वीर्यविशेष से पहले वँधे हुये कर्म की स्थिति तथा रस घट जाते हैं उसको, 'अपवर्तना करण" समझना चाहिये।]

अवाधा काल व्यतीत हो चुकने पर भी जो कर्मदलिक पीछे से उदय में आने वाले होते हैं, उनको प्रयत्नविशेष से खींच कर उदय-प्राप्त दलिकों के साथ भोग लेना उसे "उदीरणा" कहते हैं।

वँधे हुये कर्म का अपने स्वरूप को न छोड़ कर आत्मा के साथ लगा रहना "सत्ता" कहलाती है।

[वद्ध-कर्म, निर्जरा से और संक्रमण से अपने स्वरूप को छोड़ देता है।

बँधे हुये कर्मका तप-ध्यान-आदि साधनों के द्वारा आत्मा से अलग हो जाना "निर्जरा" कहलाती है ।

जिस वीर्य-विशेष से कर्म, एक स्वरूप को छोड़ दूसरे सजातीय स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, उस वीर्य विशेष का नाम "संक्रमण" है । इस तरह एक कर्म प्रकृति का दूसरी सजातीयकर्मप्रकृतिरूप बन जाना भी संक्रमण कहाता है । जैसे मतिज्ञानावरणीय कर्म का श्रुतज्ञानावरणीय कर्मरूपमें बदल जाना या श्रुतज्ञानावरणीय कर्म का मतिज्ञानावरणीय कर्म रूप में बदल जाना । क्योंकि ये दोनों प्रकृतियाँ ज्ञानावरणीय कर्म का भेद होने से आपस में सजातीय हैं ।]

*प्रत्येक गुणस्थान में जितनी कर्म प्रकृतियों का बन्ध हो सकता है, जितनी कर्म प्रकृतियों का उदय हो सकता है, जितनी कर्म प्रकृतियों की उदीरणा की जा सकती है और जितनी कर्म प्रकृतियाँ सत्तागत हो सकती हैं; उनका क्रमशः वर्णन करना, यही ग्रन्थकार का उद्देश्य है । इस उद्देश्य को ग्रन्थकार ने भगवान् महावीर की स्तुति के बहाने से इस ग्रन्थ में पूरा किया है ॥ १ ॥

पहले गुण स्थानों को दिखाते हैं

मिच्छे सासण मीसे अविरय देसे पमत्त अपमत्ते ।
नियट्टि अनियट्टि सुहुमु वसम खीण सजोगि अजोगिगुणा॥२॥
(मिथ्यात्वसास्वादनमिश्रमविरतदेशं प्रमत्ताप्रमत्तम् ।
निवृत्यनिवृत्ति सूक्ष्मोपशम क्षीणसयोग्यऽयोगिगुणाः।२।)

अर्थ—गुणस्थान के १४ (चौदह) भेद हैं। जैसे—(१) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान, (२) सास्वादन (सासादन) सम्यग्दृष्टि गुणस्थान (३) सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान (४) अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान (५) देशविरत गुणस्थान, (६) प्रमत्तसंयत गुणस्थान,(७) अप्रमत्तसंयत गुणस्थान(८) निवृत्ति (अपूर्वकरण),गुणस्थान(९)अनिवृत्तिबादर सम्पराय गुणस्थान (१०) सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान, (११) उपशान्त-कषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान, (१२) क्षीणकषाय वीत-राग-छद्मस्थ गुणस्थान, (१३) सयोगि केवलि गुणस्थान और (१४) अयोगि केवलि गुणस्थान।

भावार्थ—जीव के स्वरूपविशेष को (भिन्न स्वरूप को) गुणस्थान कहते हैं। ये स्वरूपविशेष ज्ञान दर्शन चारित्र आदि गुणों की शुद्धि तथा अशुद्धि के तरतम-भाव से होते हैं। जिस वक्त अपना आवरणभूत कर्म कम होजाता है,उस वक्त ज्ञान-दर्शन-चारित्र-आदि गुणों की शुद्धि अधिक प्रकट होती है। और जिस वक्त आवरणभूत कर्म की अधिकता हो जाती है, उस वक्त उक्त गुणों की शुद्धि कम हो जाती है, और अशु-द्धि तथा अशुद्धि से होनेवाले जीव के स्वरूप विशेष असंख्य प्रकार के होते हैं, तथापि उन सब स्वरूप-विशेषों का संक्षेप चौदह गुणस्थानों के रूप में कर दिया गया है। चौदहों गुणस्थान मोक्षरूप महल को प्राप्त करने के लिये सीढ़ियों के समान हैं। पूर्व पूर्व गुणस्थान की अपेक्षा उत्तर २ गुण-स्थान में ज्ञान-आदि गुणों की शुद्धि बढ़ती जाती है, और अशुद्धि घटती जाती है। अतएव आगे आगे के गुणस्थानों में अशुभ प्रकृतियों की अपेक्षा शुभ प्रकृतियां अधिक बाँधी जाती हैं, और शुभ प्रकृतियों का बंध भी क्रमशः रुकता जाता है।

मिथ्यादृष्टि गुणस्थान—मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के उदय से जिस जीव की दृष्टि (श्रद्धा या प्रतिपत्ति) मिथ्या (उलटी) हो जाती है, वह जीव मिथ्यादृष्टि कहाता है-जैसे धतूरे के बीज को खानेवाला मनुष्य सफेद-चीज़ को भी पीली देखता और मानता है। इसी प्रकार मिथ्यात्वी जीव भी जिसमें देव के लक्षण नहीं हैं उसको देव मानता है, तथा जिस में गुरु के लक्षण नहीं उसपर गुरु-बुद्धि रखता है और जो धर्मों के लक्षणों से रहित है उसे धर्म समझता है। इस प्रकार के मिथ्यादृष्टि जीवका स्वरूप-विशेष ही "मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान" कहाता है।

प्रश्न—मिथ्यात्वी जीव के स्वरूप-विशेष को गुणस्थान कैसे कह सकते हैं? क्योंकि जब उसकी दृष्टि मिथ्या (अयथार्थ) है तब उसका स्वरूप-विशेष भी विकृत—अर्थात् दोषात्मक हो जाता है।

उत्तर—यद्यपि मिथ्यात्वी की दृष्टि सर्वथा यथार्थ नहीं होती, तथापि वह किसी अंशमें यथार्थ भी होती है। क्योंकि मिथ्यात्वी जीव भी मनुष्य, पशु, पक्षी-आदि को मनुष्य, पशु, पक्षी आदि रूपसे जानता तथा मानता है। इस लिये उसके स्वरूपविशेष को गुणस्थान कहा है। जिस प्रकार सघन बादलों का आवरण होने पर भी सूर्य की प्रभा सर्वथा नहीं छिपती, किन्तु कुछ न कुछ खुली रहती ही है जिससे कि दिनरात का विभाग किया जा सके। इसी प्रकार मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का प्रबल उदय होने पर भी जीव का दृष्टि-गुण सर्वथा आवृत नहीं होता। अतएव किसी न किसी अंश में मिथ्यात्वी की दृष्टि भी यथार्थ होती है।

प्रश्न—जब मिथ्यात्वी की दृष्टि किसी भी अंश में यथार्थ हो सकती है, तब उसे सम्यग्दृष्टि कहने और मानने में क्या बाधा है ?।

उत्तर—एक अंश मात्र की यथार्थ प्रतीति होने से जीव सम्यग्दृष्टि नहीं कहाता, क्योंकि शास्त्र में ऐसा कहा गया है कि जो जीव सर्वज्ञ के कहे हुये बारह अङ्गों पर श्रद्धा रखता है परन्तु उन अङ्गों के किसी भी एक अक्षर पर विश्वास नहीं करता, वह भी मिथ्यादृष्टि ही है। जैसे जमालि। मिथ्यात्व की अपेक्षा सम्यक्त्व-जीव में विशेषता यही है कि सर्वज्ञ के कथन के ऊपर सम्यक्त्वी का विश्वास अखंडित रहता है, और मिथ्यात्वी का नहीं ॥ १ ॥

सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान—जो जीव औपशमिक सम्यक्त्वी है, परन्तु अनन्तानुबन्धि कषाय के उदय से सम्यक्त्व को छोड़ मिथ्यात्व की ओर झुक रहा है, वह जीव जब तक मिथ्यात्व को नहीं पाता तब तक—अर्थात् जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छः आवलिका पर्यन्त सासादन सम्यग्दृष्टि कहाता है और उस जीव का स्वरूप—विशेष "सासादन सम्यग्दृष्टि—गुण स्थान" कहाता है ॥

इस गुणस्थान के समय यद्यपि जीव का झुकाव मिथ्यात्व की ओर होता है, तथापि जिस प्रकार खीर खा कर उस का वमन करने वाले मनुष्य को खीर का विलक्षण स्वाद अनुभव में आता है, इसी प्रकार सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व की ओर झुके हुये उस जीव को भी, कुछ काल के लिये सम्यक्त्व गुण का आस्वाद अनुभव में आता है। अत एव इस गुण स्थान को "सास्वादन सम्यग्दृष्टिगुणस्थान" भी कहते हैं ॥

प्रसंगवश इसी जगह औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति का क्रम लिख दिया जाता है॥

जीव अनादि-काल से संसार में घूम रहा है, और तरह तरह के दुःखों को पाता है। जिस प्रकार पर्वत की नदी का पत्थर इधर उधर टकरा कर गोल और चीकना बन जाता है, इसी प्रकार जीव भी अनेक दुःख सहते कोमल और शुद्ध परिणामी बन जाता है। परिणाम इतना शुद्ध हो जाता है कि जिस के बल से जीव आयु को छोड़ शेष सात कर्मों की स्थिति को पल्योपमासंख्यात भाग न्यून कोटा कोटी सागरोपम प्रमाण कर देता है। इसी परिणाम का नाम शास्त्र में यथाप्रवृत्ति करण है। यथाप्रवृत्ति करण से जीव रागद्वेष की एक ऐसी मजबूत गाँठ, जोकि कर्कश, दृढ और गूढ रेशम की गांठ के समान दुर्भेद है वहां तक आता है, परन्तु उस गांठ को भेद नहीं सकता, इसी को ग्रन्थिदेश की प्राप्ति कहते हैं। यथाप्रवृत्ति करण से अभव्य जीव भी ग्रन्थिदेश की प्राप्ति कर सकते हैं—अर्थात् कर्मों की बहुत बड़ी स्थिति को घटा कर अन्तः कोटाकोटि सागरोपम प्रमाण कर सकते हैं, परन्तु वे रागद्वेष की दुर्भेद ग्रन्थिको तोड़ नहीं सकते। और भव्य जीव यथाप्रवृत्ति करण नामक परिणाम से भी विशेष शुद्ध—परिणाम को पा सकता है। तथा उस के द्वारा राग द्वेष की दृढतम ग्रन्थि की—अर्थात् राग द्वेष के अति दृढ—संस्कारों को छिन्न भिन्न कर सकता है। भव्य जीव जिस परिणाम से राग द्वेष की दुर्भेद ग्रन्थि को लांघ जाता है, उस परिणाम को शास्त्र में "अपूर्वकरण" कहते हैं। "अपूर्वकरण" नाम रखने का मतलब यह है कि इस प्रकार का परिणाम कदाचित् ही होता है, बार बार नहीं होता। अत एव वह परिणाम अपूर्वसा है। इसके विपरीत "यथाप्रवृत्ति"

करण" नामक परिणाम तो अभव्य जीवों को भी अनन्त बार आता है। अपूर्वकरण–परिणाम से जब राग द्वेष की ग्रन्थि टूट जाती है, तब तो और भी अधिक शुद्ध परिणाम होता है। इस अधिक शुद्ध परिणाम को "अनिवृत्ति करण" कहते हैं। इसे अनिवृत्तिकरण कहने का अभिप्राय यह है कि इस परिणाम के बल से जीव सम्यक्त्व को प्राप्त कर ही लेता है। सम्यक्त्व को प्राप्त किये बिना वह निवृत्त नहीं होता–अर्थात् पीछे नहीं हटता। इस अनिवृत्तिकरण नामक परिणाम के समय वीर्य समुल्लास–अर्थात् सामर्थ्य भी पूर्व की अपेक्षा बढ़ जाता है। अनिवृत्तिकरण की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त-प्रमाण मानी जाती है। अनिवृत्ति करण की अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण स्थिति में से जब कई एक भाग व्यतीत हो जाते हैं, और एक भाग मात्र शेष रह जाता है, तब अन्तःकरण की क्रिया शुद्ध होती है। अनिवृत्तिकरण की अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण स्थिति का अन्तिम एक भाग–जिसमें अन्तः करण की क्रिया प्रारम्भ होती है–वह भी अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण ही होता है। अन्तर्मुहूर्त्त के असंख्यात भेद हैं, इस लिये यह स्पष्ट है कि अनिवृत्ति करण के अन्तर्मुहूर्त्त की अपेक्षा उसके अन्तिम भाग का अन्तर्मुहूर्त्त, जिसको अन्तर करण क्रिया-काल कहना चाहिये–वह छोटा होता है। अनिवृत्ति करण के अन्तिम भाग में अन्तःकरण की क्रिया होती है इसका मतलब यह है कि अभी जो मिथ्यात्व मोहनीय कर्म उदयमान है, उसके उन दलिकों को जो कि अनिवृत्तिकरण के बाद अन्तर्मुहूर्त्त तक उदय में आनेवाले हैं, आगे पीछे करलेना अर्थात् अनिवृत्ति-करण के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण काल में मिथ्यात्वमोह-नीय कर्म के जितने दलिक उदयमें आनेवाले हों, उनमें से कुछ दलिकों को अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय पर्यन्त

उदय में आने वाले दलिकों में स्थापित किया जाता है॥ और कुछ दलिकों को उस अन्तर्मुहूर्त के बाद उदय में आने वाले दलिकों के साथ मिला दिया जाता है। इससे अनिवृत्तिकरण के बाद का एक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल ऐसा हो जाता है कि जिस में मिथ्यात्वमोहनीय कर्म का दलिक रहता ही नहीं। अतएव जिसका अबाधा काल पूरा हो चुका है, ऐसे मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के दो भाग हो जाते हैं। एक भाग तो वह जो अनिवृत्तिकरण के चरम समय पर्यन्त उदयमान रहता है, और दूसरा भाग वह जो अनिवृत्तिकरण के बाद, एक अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण काल व्यतीत हो चुकने पर उदय में आता है। इन दो भागों में से पहले भाग को मिथ्यात्व की प्रथम स्थिति और दूसरे भाग को द्वितीयस्थिति कहते हैं। जिस समय में अन्तर करण क्रिया शुरू होती है-अर्थात् निरन्तर उदययोग्य दलिकों का व्यवधान किया जाता है, उस समय से अनिवृत्तिकरण के चरम समय पर्यन्त उक्त दो भागों में से प्रथम भाग का उदय रहता है। अनिवृत्तिकरण का अन्तिम समय व्यतीत हो जाने पर मिथ्यात्व का किसी भी प्रकार का उदय नहीं रहता। क्योंकि उस वक्त जिन दलिकों के उदय का सम्भव है, वे सब दलिक, अन्तरकरण क्रिया से आगे और पीछे उदय में आने योग्य कर दिये जाते हैं। अनिवृत्तिकरण के चरम समय पर्यन्त मिथ्यात्व का उदय रहता है, इस लिये उस वक्त तक जीव मिथ्यात्वी कहलाता है। परन्तु अनिवृत्तिकरण काल व्यतीत हो चुकने पर जीवको औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है। क्योंकि उस समय मिथ्यात्वमोहनीयकर्म का विपाक और प्रदेश-दोनों प्रकार से उदय नहीं होता। इस लिये जीव का स्वाभाविक सम्यक्त्वगुण व्यक्त होता है और

औपशमिक सम्यक्त्व कहाता है। औपशमिक सम्यक्त्व उतने काल तक रहता है जितने कालतक के उदय योग्य दलिक आगे पीछे करलिये जाते हैं। पहले ही कहा जा चुका है कि अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त वेदनीय दलिकों को आगे पीछे कर दिया जाता है इससे यह भी सिद्ध है कि औपशमिक सम्यक्त्व अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त रहता है। इस औपशमिक सम्यक्त्व के प्राप्त होते ही जीवको पदार्थों की स्फुट या असंदिग्ध प्रतीति होती है, जैसे कि जन्मान्ध -मनुष्य को नेत्रलाभ होने पर होती है। तथा औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होते ही मिथ्यात्व-रूप महान् रोग हट जाने से जीव को ऐसा अपूर्व आनन्द अनुभव में आता है जैसा कि किसी बी-मारको अच्छी औषधि के सेवन से बीमारी के हटजाने पर अनुभव में आता है। इस औपशमिक सम्यक्त्व के काल को उपशान्ताद्धा तथा अन्तरकरण काल कहते हैं। प्रथम स्थिति के चरम समय में-अर्थात् उपशान्ताद्धा के पूर्व समय में, जीव विशुद्ध परिणाम से उस मिथ्यात्व के तीन पुँज करता है जो कि उपशान्ताद्धा के पूरा हो जाने के बाद उदय में आने वाला है। जिस प्रकार कोद्रव धान्य (कोदो नामक धान्य) औषधि विशेष से साफ किया जाता है, तब उसका एक भाग इतना शुद्ध हो जाता है जिस से कि, खाने वाले को नशा नहीं होता कुछ भाग शुद्ध होता है परन्तु विल्कुल शुद्ध नहीं होता, अर्द्ध शुद्ध सा रह जाता है। और कोद्रव का कुछ भाग तो अशुद्ध ही रह जाता है जिससे कि खाने वाले को नशा हो आता है। इसी प्रकार द्वितीय स्थितिगत-मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के तीन पुञ्जों (भागों) में से एक पुंज तो इतना विशुद्ध हो जाता है, कि उस में सम्यक्त्वघातकरस (सम्यक्त्वनाशकशक्ति) का अभाव हो जाता है। दूसरा पुञ्ज आधाशुद्ध (शुद्धाशुद्ध) हो जाता

है। और तीसरा पुञ्ज तो अशुद्ध ही रह जाता है। उपशान्ताद्धा पूर्ण हो जाने के बाद उक्त तीन पुँजोंमें से कोई एक पुंज जीव के परिणामानुसार उदय में आता है। यदि जीव विशुद्धपरिणामी ही रहा तो शुद्धपुञ्ज उदयगत होता है। शुद्धपुञ्ज के उदय होने से सम्यक्त्व का घात तो होता नहीं इस से उस समय जो सम्यक्त्व प्रकट होता है, वह क्षायोपशमिक कहलाता है। यदि जीव का परिणाम न तो बिल्कुल शुद्ध रहा और न बिलकुल अशुद्ध, किन्तु मिश्र ही रहा तो अर्धविशुद्ध पुंजका उदय हो आता है। और यदि परिणाम अशुद्ध ही हो गया तब तो अशुद्ध पुञ्ज उदयगत हो जाता है, अशुद्ध पुञ्ज के उदयप्राप्त होने से जीव, फिर मिथ्यादृष्टि बन जाता है। अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण उपशान्त-अद्धा, जिसमें जीव शान्त, प्रशान्त, स्थिर और पूर्णानन्द हो जाता है, उस का जघन्य एक समय या उत्कृष्ट छः (६) आवलिकायें जब बाकी रह जाती हैं, तब किसी किसी औपशमिक सम्यक्त्वी जीव को विघ्न आ पड़ता है-अर्थात् उसकी शान्ति में भङ्ग पड़ता है। क्योंकि उस समय अनन्तानुबंधि कषाय का उदय हो आता है। अनन्तानुबन्धि कषाय का उदय होते ही जीव सम्यक्त्व परिणाम का त्याग कर मिथ्यात्व की ओर झुक जाता है। और जब तक वह मिथ्यात्व को नहीं पाता तब तक,-अर्थात् उपशान्त-अद्धा के जघन्य एक समय पर्यन्त अथवा उत्कृष्ट छः आवलिका पर्यन्त सासादन भाव का अनुभव करता है। इसी से उस समय वह जीव सासादन सम्यग्दृष्टि कहाता है। जिसको औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है, वही सासादन सम्यग्दृष्टि हो सकता है; दूसरा नहीं ॥२॥

सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान—मिथ्यात्वमोहनीयके पूर्वोक्त तीन पुंजों में से जब अर्द्ध-विशुद्ध-पुंज का उदय हो आता है, तब जैसे गुड से मिश्रित दहीं का स्वाद कुछ अम्ल (खट्टा) और कुछ मधुर (मीठा)-अर्थात् मिश्र होता है। इस प्रकार जीवकी दृष्टि भी कुछ सम्यक् (शुद्ध) और कुछ मिथ्या (अशुद्ध)-अर्थात् मिश्र हो जाती है। इसी से वह जीव सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र दृष्टि) कहाता है तथा उसका स्वरूपविशेष सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान (मिश्र गुणस्थान)। इस गुण स्थान के समय बुद्धि में दुर्बलता सी आजाती है। जिससे जीव सर्वज्ञ के कहे हुए तत्वों पर न तो एकान्त रुचि करता है, और न एकान्त अरूचि। किन्तु वह सर्वज्ञ-प्रणीत तत्वों के विषय में इस प्रकार मध्यस्थ रहता है, जिस प्रकार कि नालिकेर द्वीप निवासी मनुष्य ओदन (भात) आदि अन्न के विषय में। जिस द्वीप में प्रधानतया नरियल पैदा होते हैं, वहाँ के अधिवासियों ने चावल-आदि अन्न नतो देखा होता है और न सुना। इससे वे अदृष्ट और अश्रुत अन्न को देख कर उस के विषय में रुचि या घृणा नहीं करते। किन्तु समभाव ही रहते हैं। इसी तरह सम्यङ्मिथ्यादृष्टि जीव भी सर्वज्ञ कथित मार्गपर प्रीति या अप्रीति न करके, समभाव ही रहते हैं। अर्धविशुद्ध पुंजका उदय अन्तर्मुहूर्त्त मात्र पर्यन्त रहता है। इस के अनन्तर शुद्ध या अशुद्ध किसी एक पुंज का उदय हो आता है। अतएव तीसरे गुणस्थान की स्थिति, मात्र अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण मानी जाती है ॥३॥

अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान—सावद्य व्यापारों को छोड़ देना अर्थात् पापजनक प्रयत्नों से अलग हो जाना उसे विरति कहते हैं। चारित्र और व्रत, विरति ही का नाम है।

जो सम्यग्दृष्टि हो कर भी किसी भी प्रकार के व्रत को धारण नहीं कर सकता, वह जीव अविरतसम्यग्दृष्टि,, और उस का स्वरूपविशेष अविरतसम्यग्दृष्टि-गुणस्थान कहाता है. अविरत जीव सात प्रकार के होते हैं। जैसे—

१—जो व्रतों को न जानते हैं, न स्वीकारते हैं और न पालते हैं वे सामान्यतः सब लोग।

२—जो व्रतों को जानते नहीं, स्वीकारते नहीं किन्तु पालते हैं। वे तपस्वीविशेष।

३—जो व्रतों को जानते नहीं, परन्तु स्वीकारते हैं और स्वीकार कर पालते नहीं, वे पार्श्वस्थ नामक साधुविशेष।

४—जिनको व्रतोंका ज्ञान नहीं है, किन्तु उनका स्वीकार तथा पालन बराबर करते हैं, वे अगीतार्थ मुनि।

५—जिनको व्रतों का ज्ञान तो है, परन्तु जो व्रतों का स्वीकार तथा पालन नहीं कर सकते, वे श्रेणिक, कृष्ण आदि।

६—जो व्रतों को जानते हुये भी स्वीकार नहीं कर सकते किन्तु उनका पालन अवश्य करते हैं, वे अनुत्तरविमान वासिदेव।

७—जो व्रतों को जानकर स्वीकार लेते हैं, किन्तु पीछे से उन का पालन नहीं कर सकते, वे संविग्नपाक्षिक।

सम्यग्ज्ञान सम्यग्ग्रहण और सम्यक्पालन से ही व्रत सफल होते हैं। जिन को व्रतों का सम्यग्ज्ञान नहीं है, जो व्रतों को विधिपूर्वक ग्रहण नहीं करते और जो व्रतों का यथार्थ पालन नहीं करते,

वे सब घुणाक्षरन्याय से व्रतों कों पाल भी लें तथापि उस से फलका सम्भव नहीं है। उक्त सात प्रकार के अविरतों में से पहले चार प्रकार के अविरत—जीव तो मिथ्यादृष्टि हीं हैं। क्यों कि उनको व्रतोंका यथार्थ ज्ञान ही नहीं है। और पिछले तीन प्रकार के अविरत जीव सम्यग्दृष्टि हैं। क्यों कि वे व्रतों को यथाविधि ग्रहण तथा पालन नहीं कर सकते, तथापि उन्हें यथार्थ जानते हैं। अविरतसम्यग्दृष्टि जीवों में भी कोई औपशमिक-सम्यक्त्वी होते हैं, कोई क्षायोपशमिक-सम्यक्त्वी होते हैं और कोई क्षायिक-सम्यक्त्वी होते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि जीव व्रत-नियम को यथावत् जानते हुये भी स्वीकार तथा पालन नहीं कर सकते क्योंकि उनको अप्रत्याख्यानावरण-कषाय का उदय रहता है, और यह उदय चारित्रके ग्रहण तथा पालन का प्रतिबंधक(रोकने वाला)है॥४॥

देशविरतगुणस्थान—प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय के कारण जो जीव, पाप जनक क्रियाओं से बिलकुल नहीं किन्तु देश (अंश) से अलग हो सकते हैं वे देशविरत या श्रावक कहलाते हैं; और उनका स्वरूप-विशेष देशविरत गुण स्थान। कोई श्रावक एक व्रत को ग्रहण करता है, और कोई दो व्रत को। इस प्रकार अधिक से अधिक व्रत को पालन करने वाले श्रावक ऐसे भी होते हैं जो कि पापकार्यों में अनु-मति के सिवा और किसी प्रकार से भाग नहीं लेते अनुमति तीन प्रकार की है जैसे-१-प्रतिसेवनानुमति, २-प्रतिश्रवणा नुमति और ३-संवासानुमति। अपने या दूसरे के किये हुये भोजन-आदि का उपभोग करना "प्रतिसेवनानुमति" कहाती है। पुत्र-आदि किसी संबन्धि के द्वारा किये गये पाप कर्मों को केवल सुनना, और सुन कर भी उन कामों के करने

से पुत्र आदि को नहीं रोकना; उसे "प्रतिश्रवणानुमति" कहते हैं। पुत्र आदि अपने संबन्धियों के पाप-कार्य में प्रवृत्त होने पर, उनके ऊपर सिर्फ ममता रखना-अर्थात् नतो पाप-कर्मों को सुनना और सुन कर भी न उस की प्रशंसा करना, इसे "संवासानुमति" कहते हैं। जो श्रावक, पापजनक-आरंभो में किसी भी प्रकार से योग नहीं देता केवल संवासानुमति को सेवता है, वह अन्य सब श्रावकों में श्रेष्ठ है ॥५॥

प्रमत्तसंयतगुणस्थान—जो जीव पापजनक व्यापारों से विधिपूर्वक सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं, वेही संयत (मुनि) हैं। संयत भी जब तक प्रमाद का सेवन करते हैं, तबतक प्रमत्तसंयत कहाते हैं, और उनका स्वरूपविशेष प्रमत्त संयत गुणस्थान कहाता है। जो जीव संयत होते हैं, वे यहां तक सावद्य कर्म्मों का त्याग करते हैं कि पूर्वोक्त संवासानुमति को भी नहीं सेवते। इतना त्याग कर सकने का कारण यह है कि, छठे गुणस्थानसे लेकर आगे प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय रहता ही नहीं है ॥६॥

अप्रमत्तसंयतगुणस्थान—जो मुनि निद्रा, विषय, कषाय विकथा-आदि प्रमादों को नहीं सेवते वे अप्रमत्त संयत हैं, और उन का स्वरूप-विशेष, जो ज्ञान-आदि गुणों की शुद्धि तथा अशुद्धि के तरतम-भावसे होता है, वह अप्रमत्तसंयत गुण-स्थान है। प्रमाद के सेवन से ही आत्मा गुणों की शुद्धि से गिरता है; इस लिये सातवें गुणस्थान से लेकर आगे के सब गुणस्थानों में वर्त्तमान मुनि, अपने स्वरूप में अप्रमत्त ही रहते हैं ॥७॥

निवृत्ति (अपूर्वकरण) गुणस्थान—जो इस गुणस्थान को प्राप्त करचुके हैं तथा जो प्राप्त कर रहे हैं और जो आगे प्राप्त करेंगे, उन सब जीवों के अध्यवसाय स्थानों की (परिणाम-भेदों की) संख्या, असंख्यात-लोकाकाशों के प्रदेशों के बराबर है। क्यों कि इस आठवें गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है और अन्तर्मुहूर्त्त के असंख्यात समय होते हैं जिनमें से केवल प्रथम समयवर्ती त्रैकालिक-(तीनों कालके) जीवों के अध्यवसाय भी असंख्यात-लोकाकाशों के प्रदेशों के तुल्य हैं। इस प्रकार दूसरे, तीसरे आदि प्रत्येकसमयवर्ती त्रैकालिक जीवों के अध्यवसाय भी गणना में असंख्यात-लोकाकाशों के प्रदेशों के बराबर ही हैं। असंख्यात संख्या के असंख्यात प्रकार हैं। इस लिये एक एक समयवर्ती त्रैकालिक जीवों के अध्यवसायों की संख्या और सब समयों में वर्तमान त्रैकालिक जीवों के अध्यवसायों की संख्या—ये दोनों संख्यायें सामान्यतः एकसी अर्थात् असंख्यात ही हैं। तथापि वे दोनों असंख्यात संख्यायें परस्पर भिन्न हैं। यद्यपि इस आठवें गुणस्थान के प्रत्येक समयवर्ती त्रैकालिक-जीव अनन्त ही होते हैं, तथापि उनके अध्यवसाय असंख्यात ही होते हैं। इसका कारण यह है कि समान समयवर्ती अनेक जीवों के अध्यवसाय यद्यपि आपसमें जुदे जुदे (न्यूनाधिक शुद्धिवाले) होते हैं, तथापि समसमयवर्ती बहुत जीवों के अध्यवसाय तुल्य शुद्धिवाले होने से जुदे जुदे नहीं माने जाते। प्रत्येक समय के असंख्यात अध्यवसायों में से जो अध्यवसाय, कम शुद्धिवाले होते हैं, वे जघन्य। तथा जो अध्यवसाय, अन्य सब अध्यवसायों की अपेक्षा अधिक शुद्धिवाले होते हैं, वे उत्कृष्ट कहाते हैं। इस प्रकार एक वर्ग जघन्य अध्यवसायों का होता है। इन दो वर्गों

के बीच में असंख्यात वर्ग हैं, जिन के सब अध्यवसाय मध्यम कहाते हैं। प्रथम वर्ग के जघन्य अध्यवसायों की शुद्धि की अपेक्षा अन्तिम वर्ग के उत्कृष्ट अध्यवसायों की शुद्धि अनन्त-गुण-अधिक मानी जाती है। और बीच के सब वर्गों में से पूर्व पूर्व वर्ग के अध्यवसायों की अपेक्षा पर पर वर्ग के अध्यवसाय, विशेष-शुद्ध माने जाते हैं। सामान्यतः इस प्रकार माना जाता है कि सम-समयवर्ती अध्यवसाय एक दूसरे से अनन्त-भाग-अधिक-शुद्ध, असंख्यात-भाग-अधिक-शुद्ध, संख्यात-भाग-अधिक-शुद्ध, संख्यात-गुण-अधिक-शुद्ध, असंख्यात-गुण-अधिक-शुद्ध और अनन्त-गुण-अधिक-शुद्ध होते हैं। इस तरह की अधिक-शुद्धि के पूर्वोक्त अनन्त-भाग-अधिक आदि छः प्रकारों को शास्त्र में 'षट्स्थान' कहते हैं। प्रथम समय के अध्यवसायों की अपेक्षा दूसरे समय के अध्यवसाय भिन्न ही होते हैं, और प्रथम समय के उत्कृष्ट अध्यवसायों से दूसरे समयके जघन्य अध्यवसाय भी अनन्त-गुण-विशुद्ध होते हैं। इस प्रकार अन्तिम समयतक पूर्व पूर्व समय के अध्यवसायों से पर पर समय के अध्यवसाय भिन्न भिन्न समझने चाहिये। तथा पूर्व पूर्व समय के उत्कृष्ट-अध्यवसायों की अपेक्षा पर पर समय के जघन्य अध्यवसाय भी अनन्त-गुण-विशुद्ध समझने चाहिये।

इस आठवें गुणस्थान के समय जीव पाँच वस्तुओं का विधान करता है। जैसे—१ स्थितिघात, २ रसघात, ३ गुण-श्रेणि, ४ गुणसंक्रमण और अपूर्व स्थितिबंध।

१—जो कर्म-दलिक आगे उदय में आनेवाले हैं, उन्हें अपवर्तना-करण के द्वारा अपने अपने उदय के नियत समयों से हटा देना—अर्थात् ज्ञानावरण आदि कर्मों की बड़ी स्थिति को

अपवर्तना-करण से घटा देना इसे "स्थितिघात" कहते हैं।

२—बँधे हुये ज्ञानावरणादि-कर्मों के प्रचुर रस (फल देने की तीव्र शक्ति) को अपवर्तना-करण के द्वारा मन्द कर देना यही "रसघात" कहलाता है।

३—जिन कर्म दलिकों का स्थितिघात किया जाता है अर्थात् जो कर्मदलिक अपने अपने उदय के नियत-समयों से हटाये जाते हैं, उनको प्रथम के अन्तर्मुहूर्त्त में स्थापित कर देना "गुणश्रेणिं" कहाती है। स्थापन का क्रम इस प्रकार हैः—उदय-समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त के जितने समय होते हैं, उनमें से उदयावलिका के समयों को छोड़ कर शेष जितने समय रहते हैं इनमें से प्रथम समय में जो दलिक स्थापित किये जाते हैं वे कम होते हैं। दूसरे समय में स्थापित किये जानेवाले दलिक प्रथम समय में स्थापित-दलिकों से असंख्यात-गुण-अधिक होते हैं। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त्त के चरमसमयपर्यन्त पर पर समय में स्थापित किये जानेवाले दलिक, पूर्व पूर्व समय में स्थापित किये गये दलिकों से असंख्यात-गुण ही समझने चाहिये।

४—जिन शुभ-कर्म-प्रकृतियों का बन्ध अभी हो रहा है उनमें पहले बाँधी हुई अशुभ-प्रकृतियों का संक्रमण कर देना—अर्थात् पहले बाँधी हुई अशुभ-प्रकृतियों को वर्तमान बन्धवाली शुभ-प्रकृतियों के रूप में परिणत करना "गुण-संक्रमण" कहलाता है।

गुणसंक्रमण का क्रम संक्षेप में इस प्रकार है—प्रथम समय में अशुभ-प्रकृति के जितने दलिकों का शुभ-प्रकृति में संक्रमण होता है, उनकी अपेक्षा दूसरे समय में असंख्यात-गुण-अधिक

दलिकों का संक्रमण होता है। इस प्रकार जब तक गुण-संक्रमण होता रहता है तब तक पूर्व पूर्व समय में संक्रमण किये गये दलिकों से उत्तर उत्तर समय में असंख्यात-गुण-अधिक दलिकों का ही संक्रमण होता है।

५—पहले की अपेक्षा अत्यन्त अल्प-स्थिति के कर्मों को बाँधना "अपूर्वस्थितिबन्ध" कहलाता है।

ये स्थितिघात-आदि पाँच पदार्थ, यद्यपि पहले के गुण-स्थानों में भी होते हैं; तथापि आठवें गुणस्थान में वे अपूर्व ही होते हैं। क्यों कि पहले के गुणस्थानों में अध्यवसायों की जितनी शुद्धि होती है उसकी अपेक्षा आठवें गुणस्थान में अध्यवसायों की शुद्धि अत्यन्त अधिक होती है। अतएव पहलेके गुणस्थानों में बहुत कम स्थिति का और अतिअल्प रस का घात होता है। परन्तु आठवें गुणस्थान में अधिक-स्थिति का तथा अधिक-रस का घात होता है। इसी तरह पहले के गुणस्थानों में गुणश्रेणि की काल-मर्यादा अधिक होती है, तथा जिन दलिकों की गुणश्रेणि (रचना या स्थापना) की जाती है वे दलिक भी अल्प ही होते हैं; और आठवें गुणस्थान में गुणश्रेणि-योग्य-दलिक तो बहुत अधिक होते हैं, परन्तु गुणश्रेणि का काल-मान बहुत कम होता है। तथा पहले गुणस्थानों की अपेक्षा आठवें गुणस्थान में गुणसंक्रमण भी बहुत कर्मों का होता है, अतएव वह अपूर्व होता है। और आठवें गुणस्थान में इतनी अल्प-स्थिति के कर्म बाँधे जाते हैं कि जितनी अल्प-स्थिति के कर्म पहले के गुणस्थानों में कदापि नहीं बँधते। इस प्रकार उक्त स्थितिघात-आदि पदार्थों का अपूर्व विधान होने से इस आठवें गुणस्थानका दूसरा नाम "अपूर्व-करण" गुणस्थान यह भी शास्त्र में प्रसिद्ध है।

जैसे राज्य को पाने की योग्यतामात्र से भी राजकुमार राजा कहाता है, वैसे ही आठवें गुणस्थान में वर्तमान जीव, चारित्र-मोहनीय कर्म के उपशमन या क्षपण के योग्य होने से उपशमक या क्षपक कहलाते हैं। क्यों कि चारित्र-मोहनीय कर्म के उपशमन या क्षपण का प्रारम्भ नववें गुणस्थानक में ही होता है, आठवें गुणस्थान में तो उसके उपशमन या क्षपण के प्रारम्भ की योग्यतामात्र होती है ॥ ८ ॥

अनिवृत्तिवादर संपराय गुणस्थान—इस गुणस्थान की स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण ही है। एक अन्तर्मुहूर्त्त के जितने समय होते हैं उतने ही अध्यवसाय-स्थान, इस नववें गुणस्थानक में माने जाते हैं; क्यों कि नववें गुणस्थानक में जो जीव सम-समयवर्ती होते हैं उन सब के अध्यवसाय एक से-अर्थात् तुल्य-शुद्धिवाले होते हैं। जैसे प्रथम-समयवर्ती त्रैकालिक अनन्तजीवों के भी अध्यवसाय समान ही होते हैं इस प्रकार दूसरे समय से लेकर नववें गुणस्थान के अन्तिम समय तक तुल्य समय में वर्त्तमान त्रैकालिक जीवों के अध्यवसाय भी तुल्य ही होते हैं। और तुल्य अध्यवसायों को एक ही अध्यवसाय-स्थान मान लिया जाता है। इस बात को समझने की सरल रीति यह भी है कि नववें गुणस्थान के अध्यवसायों के उतने ही वर्ग हो सकते हैं जितने कि उस गुणस्थान के समय हैं। एक एक वर्ग में चाहे त्रैकालिक अनन्त जीवों के अध्यवसायों की अनन्त व्यक्तियाँ शामिल हों, परन्तु प्रतिवर्ग अध्यवसाय-स्थान एक ही माना जाता है; क्यों कि एक वर्ग के सभी अध्यवसाय, शुद्धि में बराबर ही होते हैं, परन्तु प्रथम समयके अध्यवसाय-स्थानसे—अर्थात् प्रथम-वर्गीय अध्यवसायों से—दूसरे समय के अध्यवसाय-स्थान—अर्थात्

दूसरे वर्ग के अध्यवसाय—अनन्त-गुण-विशुद्ध होते हैं। इस प्रकार नववें गुणस्थान के अन्तिमसमय तक पूर्व २ समय के अध्यवसाय-स्थान से उत्तर२ समय के अध्यवसाय-स्थान को अनन्त-गुण-विशुद्ध समझना चाहिये। आठवें गुण-स्थानक से नववें गुणस्थानक में यही विशेषता है कि आठवें गुणस्थानक में तो समान-समयवर्ती त्रैकालिक अनन्त-जीवों के अध्यवसाय,शुद्धि के तरतम-भाव से असंख्यात वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं;परन्तु नववें गुणस्थान में सम-समयवर्ती त्रैकालिक अनन्त-जीवों के अध्यवसायों का समान शुद्धि के कारण एक ही वर्ग हो सकता है। पूर्व पूर्व गुणस्थान की अपेक्षा,उत्तर उत्तर गुणस्थान में कषाय के अंश बहुत कम होते जाते हैं,और कषाय की(संक्लेशकी)जितनी ही कमी हुई, उतनी ही विशुद्धि जीव के परिणामों की बढ़ जाती है। आठवें गुणस्थान से नववें गुणस्थान में विशुद्धि इतनी अधिक हो जाती है कि उसके अध्यवसायों की भिन्नतायें आठवें गुण–स्थान के अध्यवसायों की भिन्नताओं से बहुत कम हो जाती हैं।

दसवें गुणस्थान की अपेक्षा नववें गुणस्थान में बादर (स्थूल) सम्पराय (कषाय) उदय में आता है। तथा नववें गुणस्थान के सम-समय-वर्ती जीवों के परिणामों में निवृत्ति (भिन्नता) नहीं होती। इसी लिये इस गुणस्थान का "अनि-वृत्तिबादरसम्पराय" ऐसा सार्थक नाम शास्त्र में प्रसिद्ध है।

नववें गुणस्थान को प्राप्त करनेवाले जीव, दो प्रकार के होते हैं:—एक उपशमक और दूसरे क्षपक। जो चारित्र मोहनीय कर्म का उपशमन करते हैं, वे उपशमक और जो

चारित्र-मोहनीय कर्मका क्षपण (क्षय) करते हैं वे क्षपक कहलाते हैं ॥९॥

सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान—इस गुणस्थान में सम्पराय के—अर्थात् लोभ-कषाय के—सूक्ष्म—खण्डों का ही उदय रहता है। इस लिये इसका "सूक्ष्मसम्पराय-गुणस्थान" ऐसा सार्थक नाम प्रसिद्ध है। इस गुणस्थान के जीव भी उपशमक और क्षपक होते हैं। जो उपशमक होते हैं वे लोभ-कषायमात्र का उपशमन करते हैं और जो क्षपक होते हैं वे लोभ-कषाय-मात्रका क्षपण करते हैं। क्यों कि दसवें गुणस्थान में लोभ के सिवा दूसरी चारित्रमोहनीय-कर्म की ऐसी प्रकृति ही नहीं है जिसका कि उपशमन या क्षपण हुआ न हो ॥१०॥

उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थान—

जिनके कषाय उपशान्त हुयेहैं, जिनको राग का भी(माया तथा लोभ का भी) सर्वथा उदय नहीं है; और जिनको छद्म (आवरण भूत घातिकर्म) लगे हुये हैं, वे जीव उपशान्तकषाय-वीतरागछद्मस्थ, तथा उन का स्वरूप-विशेष "उपशान्त-कषायवीतरागछद्मस्थ गुणस्थान" कहाता है।

[विशेषण दो प्रकार का होता है । १ स्वरूप विशेषण, और २ व्यावर्तक विशेषण। "स्वरूपविशेषण" उस विशेषण को कहते हैं जिस विशेषण के न रहने पर भी शेष भाग से इष्ट-अर्थ का बोध हो ही जाता है—अर्थात् जो विशेषण अपने विशेष्य के स्वरूप मात्र को जनाता है। "व्यावर्तक विशेषण" उस विशेषण को कहते हैं जिस विशेषण के रहने से ही इष्ट-अर्थ का बोध हो सकता है—अर्थात् जिस विशेषण के

अभाव में इष्ट के सिवा दूसरे अर्थ का भी बोध होने लगता है।]

"उपशान्तकषाय-वीतराग-छद्मस्थ-गुणस्थान" इस नाम में १ उपशान्तकषाय, २ वीतराग और ३ छद्मस्थ, ये तीन विशेषण हैं। जिनमें "छद्मस्थ" यह विशेषण स्वरूप-विशेषण है; क्यों कि उस विशेषण के न होने पर भी शेष भाग से-अर्थात् उपशान्तकषाय-वीतराग-गुणस्थान. इतने ही नाम से इष्ट अर्थ का (ग्यारहवें गुणस्थान का) बोध हो जाता है, और इष्ट के अतिरिक्त दूसरे अर्थ का बोध नहीं होता। अतएव छद्मस्थ यह विशेषण अपने विशेष्य का स्वरूपमात्र जनाता है। उपशान्तकषाय और वीतराग ये दो, व्यावर्तक-विशेषण हैं; क्यों कि उनके रहने से ही इष्ट अर्थ का बोध हो सकता है, और उनके अभाव में इष्ट के सिवा अन्य अर्थ का भी बोध होता है। जैसे—उपशान्त कषाय इस विशेषण के अभाव में वीतरागछद्मस्थ-गुणस्थान इतने नाम से इष्ट-अर्थ के (ग्यारहवें गुणस्थान के) सिवा बारहवें गुणस्थान का भी बोध होने लगता है। क्यों कि बारहवें गुणस्थान में भी जीव को छद्म (ज्ञानावरण-आदि घाति कर्म) तथा वीतरागत्व (राग के उदय का अभाव) होता है, परन्तु 'उपशान्त कषाय' इस विशेषण के ग्रहण करने से बारहवें गुणस्थान का बोध नहीं हो सकता; क्यों कि बारहवें गुणस्थान में जीव के कषाय उपशान्त नहीं होते बल्कि क्षीण हो जाते हैं। इसी तरह वीतराग इस विशेषण के अभाव में "उपशान्तकषाय छद्मस्थ गुणस्थान" इतने नाम से चतुर्थ पंचम-आदि गुणस्थानों का भी बोध होने लगता है। क्यों कि चतुर्थ, पञ्चम आदि गुणस्थानों में भी जीवके अनन्तानुबन्धी कषाय उपशान्त हो

सकते हैं। परन्तु "वीतराग" इस विशेषण के रहने से चतुर्थ-पञ्चम-आदि गुणस्थानों का बोध नहीं हो सकता; क्यों कि उन गुणस्थानों में वर्त्तमान जीव को राग के (माया तथा लोभ के) उदय का सद्भाव ही होता है, अतएव वीतरागत्व असंभव है।

इस ग्यारहवें गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय प्रमाण और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण मानी जाती है।

इस गुणस्थान में वर्तमान जीव आगे के गुणस्थानों को प्राप्त करने के लिये समर्थ नहीं होता; क्यों कि जो जीव क्षपक-श्रेणि को करता है वही आगे के गुणस्थानों को पा सकता है। परन्तु ग्यारहवें गुणस्थान में वर्तमान जीव तो नियम से उपशम-श्रेणि करनेवाला ही होता है, अतएव वह जीव ग्यारहवें गुणस्थान से अवश्य ही गिरता है। गुणस्थान का समय पूरा न हो जाने पर भी जो जीव भव के (आयु के) क्षयसे गिरता है वह अनुत्तर विमान में देवरूप से उत्पन्न होता है और चौथे ही गुणस्थान को प्राप्त करता है। क्यों कि उस स्थान में चौथे के सिवा अन्यगुणस्थानों का सम्भव नहीं है। चौथे गुणस्थान को प्राप्त कर वह जीव उस गुणस्थान में जितनी कर्म-प्रकृतियों के बन्ध का, उदय का तथा उदीरणा का सम्भव है उन सब कर्म-प्रकृतियों के बन्ध को, उदय को और उदीरणा को एक साथ शुरू कर देता है। परन्तु आयु के रहते हुए भी गुण-स्थान का समय पूरा हो जाने से जो जीव गिरता है वह आरोहण-क्रम के अनुसार, पतन के समय, गुणस्थानों को प्राप्त करता है—अर्थात् उसने आरोहण के समय जिस जिस गुण-स्थान को पाकर जिन जिन कर्म प्रकृतियों के बन्ध का, उदय का और उदीरणा का विच्छेद किया हुआ होता है, गिरने के

घकल भी उस उस गुणस्थान को पा कर वह जीव उन उन कर्म-प्रकृतियों के बन्ध को, उदय को और उदीरणा को शुरू कर देता है। श्रद्धा-क्षय से— अर्थात् गुणस्थान का काल समाप्त हो जाने से गिरनेवाला कोई जीव छठे गुणस्थान तक आता है, कोई पाँचवें गुणस्थान में, कोई चौथे गुणस्थान में और कोई दूसरे गुणस्थान में भी आता है।

यह कहा जा चुका है कि उपशमश्रेणिवाला जीव ग्यारहवें गुणस्थान से अवश्य ही गिरता है। इसका कारण यह है कि उसी जन्म में मोक्ष की प्राप्ति क्षपक-श्रेणि के विना नहीं होती। एक जन्म में दो से अधिक बार उपशम-श्रेणि नहीं की जा सकती और क्षपक-श्रेणि तो एक बार ही होती है। जिसने एक बार उपशम-श्रेणि की है वह उस जन्म में क्षपक-श्रेणि कर मोक्ष को पा सकता है। परन्तु जो दो बार उपशम-श्रेणि कर चुका है वह उस जन्म में क्षपक-श्रेणि कर नहीं सकता। यह तो हुआ "कर्मग्रन्थ" का अभिप्राय। परन्तु सिद्धान्त का अभिप्राय ऐसा है कि जीव एक जन्म में एक बार ही श्रेणि कर सकता है। अतएव जिसने एक बार उपशम-श्रेणि की है वह फिर उसी जन्म में क्षपक-श्रेणि नहीं कर सकता।

उपशम-श्रेणि के आरम्भ का क्रम संक्षेप में इस प्रकार है— चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें गुणस्थान में से किसी भी गुणस्थान में वर्तमान जीव पहले चार अनन्तानुबन्धि-कषायों का उपशम करता है और पीछे दर्शनमोहनीय-त्रिक का उपशम करता है। इस के बाद वह जीव छठे तथा सातवें गुणस्थान में सैकड़ों दफ़े आता और जाता है। पीछे

आठवें गुणस्थान में होकर नववें गुणस्थान को प्राप्त करता है और नववें गुणस्थान में चारित्रमोहनीय कर्म का उपशम शुरू करता है। सब से पहले वह नपुंसकवेद को उपशान्त करता है। इस के बाद स्त्रीवेद को उपशान्त करता है। इसके अनन्तर क्रमसे हास्यादि-षट्क को, पुरुषवेद को, अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण-क्रोध-युगल को, सञ्ज्वलन क्रोध को, अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण-मान-युगल को संज्वलन मान को, अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण-माया-युगल को, संज्वलन माया को और अप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण-लोभ-युगल को नववें गुणस्थान के अन्त तक में उपशान्त करता है। तथा वह संज्वलन लोभ को दसवें गुणस्थान में उपशान्त करता है ॥११॥

क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थान-

जिन्हों ने मोहनीय-कर्म का सर्वथा क्षय किया है, परन्तु शेष छद्म-(घाति कर्म) अभी विद्यमान हैं वे क्षीण-कषाय-वीत-राग-छद्मस्थ कहाते हैं और उनका स्वरूप-विशेष क्षीणक-षायवीतरागछद्मस्थगुणस्थान कहाता है। बारहवें गुणस्थान के इस नाम में १ क्षीण-कषाय, २ वीतराग और ३ छद्मस्थ-ये तीन विशेषण हैं और ये तीनों विशेषण व्यावर्तक हैं। क्योंकि "क्षीणकषाय" इस विशेषण के अभाव में 'वीतरागछद्मस्थ' इतने नाम से बारहवें गुण-स्थान के अतिरिक्त ग्यारहवें गुणस्थान का भी बोध होता है। और "क्षीणकषाय" इस विशेषण से केवल बारहवें गुणस्थान का ही बोध होता है, क्योंकि ग्यारहवें गुणस्थान में कषाय क्षीण नहीं होते, किन्तु उपशान्त मात्र होते हैं।

तथा "वीतराग" इस विशेषण के अभाव में भी क्षीणकषाय-छद्मस्थगुणस्थान इतना ही नाम बारहवें गुणस्थान का ही बोधक नहीं होता किन्तु चतुर्थ आदि गुणस्थानों का भी बोधक हो जाता है; क्योंकि उन गुणस्थानों में भी अनन्तानुबन्धि-आदि कषायों का क्षय हो सकता है। परन्तु "वीतराग" इस विशेषण के होने से उन चतुर्थ-आदि गुणस्थानों का बोध नहीं हो सकता। क्योंकि उन गुणस्थानों में किसी न किसी अंशमें राग का उदय रहता ही है। अतएव वीतरागत्व असंभव है। इस प्रकार "छद्मस्थ" इस विशेषण के न रहने से भी "क्षीणकषाय वीतराग" इतना नाम बारहवें गुणस्थान के अतिरिक्त तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान का भी बोधक हो जाता है। परन्तु "छद्मस्थ" इस विशेषण के रहने से बारहवें गुणस्थान का ही बोध होता है। क्योंकि तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में वर्तमान जीव को छद्म (घातिकर्म) नहीं होता।

बारहवें गुणस्थान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण मानी जाती है। बारहवें गुणस्थान में वर्तमान जीव क्षपक-श्रेणि वाले ही होते हैं।

क्षपक-श्रेणि का क्रम संक्षेप में इस प्रकार है:—

जो जीव क्षपक-श्रेणि को करनेवाला होता है वह चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक किसी भी गुणस्थान में सबसे पहले अनन्तानुबन्धि-चतुष्क और दर्शन-त्रिक इन सात कर्म-प्रकृतियोंका क्षय करता है। और इसके बाद आठवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण-कषाय-चतुष्क तथा प्रत्याख्यानावरण-कषाय-चतुष्क इन आठ कर्म-प्रकृतियों के

क्षय का प्रारम्भ करता है। तथा ये आठ प्रकृतियाँ पूर्ण क्षीण नहीं होने पातीं कि बीचमें ही नववें गुणस्थान के प्रारम्भ में १६ प्रकृतियों का क्षय कर डालता है। वे प्रकृतियाँ ये हैं–स्त्यानर्द्धि-त्रिक ३, नरक-द्विक ५, तिर्यग्-द्विक ७, जाति-चतुष्क ११, आतप १२, उद्योत १३, स्थावर १४, सूक्ष्म १५ और साधारण १६, इसके अनन्तर वह अप्रत्याख्यानावरण-कषाय-चतुष्क का तथा प्रत्याख्यानावरण-कषाय-चतुष्क का शेष भाग, जो कि क्षय होने से अभी तक बचा हुआ है, उसका क्षय करता है। और अनन्तर नववें गुणस्थान के अन्त में क्रम से नपुंसकवेद का, स्त्रीवेद का, हास्यादि-षट्क का, पुरुषवेद का, संज्वलन क्रोध का, संज्वलन मान का और संज्वलन माया का क्षय करता है। तथा अन्त में संज्वलन लोभ का क्षय वह दसवें गुणस्थान में करता है ॥१२॥

सयोगिकेवलिगुणस्थान--जिन्हों ने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिकर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया है और जो योग के सहित हैं वे सयोगि-केवली-कहाते हैं तथा उनका स्वरूप-विशेष सयोगिकेवलिगुणस्थान कहाता है।

आत्म-वीर्य, शक्ति, उत्साह, पराक्रम और योग इन सब शब्दों का मतलब एक ही है। मन, वचन और काय इन तीन साधनों से योग की प्रवृत्ति होती है अतएव योग के भी अपने साधन के अनुसार तीन भेद होते हैं। जैसे—१ मनोयोग, २ वचनयोग और ३ काययोग। केवलिभगवान् को मनोयोग का उपयोग किसी को मन से उत्तर देने में करना पड़ता है। जिस समय कोई मनःपर्यायज्ञानी अथवा

अनुत्तरविमानवासी देव, भगवान् को शब्द द्वारा न पूछकर मन से ही पूछता है। उस समय केवलिभगवान् उसके प्रश्न का उत्तर मन से ही देते हैं। प्रश्न करनेवाला मनःपर्यायज्ञानी या अनुत्तरविमानवासी देव, भगवान् के द्वारा उत्तर देने के लिये संगठित किये गये मनो-द्रव्यों को, अपने मनःपर्यायज्ञान से अथवा अवधिज्ञान से प्रत्यक्ष देख लेता है। और देखकर मनो-द्रव्यों की रचना के आधारसे अपने प्रश्न का उत्तर अनुमान से जान लेता है। केवलिभगवान् उपदेश देने के लिये वचन-योग का उपयोग करते हैं। और हलन-चलन-आदि क्रिया-ओं में काययोग का उपयोग करते हैं ॥१३॥

अयोगिकेवलिगुणस्थान—जो केवलिभगवान् योगों से रहित हैं वे अयोगि-केवली कहाते हैं तथा उन का स्वरूप-विशेष "अयोगिकेवलिगुणस्थान" कहाता है।

तीनों प्रकार के योग का निरोध करने से अयोगि-अवस्था प्राप्त होती है। केवलज्ञानिभगवान् सयोगि-अवस्था में जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त तक और उत्कृष्ट कुछ कम करोड़ पूर्व तक रहते हैं। इस के बाद जिन केवली भगवान् के वेदनीय, नाम और गोत्र इन तीन कर्मों की स्थिति तथा पुद्गल (परमाणु), आयुकर्म की स्थिति तथा परमाणुओं की अपेक्षा अधिक होते हैं वे केवलज्ञानी समुद्घात करते हैं। और समुद्घात के द्वारा वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की स्थिति तथा परमाणुओं को आयुकर्म की स्थिति तथा परमाणुओं के बराबर कर लेते हैं। परन्तु जिन केवलज्ञानियों के वेदनीय आदि उक्त तीन कर्म, स्थिति में तथा परमाणुओं में आयुकर्म के बराबर हैं

उनको समुद्धात करने की आवश्यकता नहीं है। अतएव वे समुद्धात को करते भी नहीं।

सभी केवलज्ञानी भगवान् सयोगि-अवस्था के अन्त में एक ऐसे ध्यान के लिये योगों का निरोध करते हैं, जो कि परम-निर्जरा का कारणभूत तथा लेश्या से रहित और अत्यन्तास्थिरतारूप होता है।

योगों के निरोध का क्रम इस प्रकार है:—

पहले बादर काययोग से बादर मनोयोग तथा बादर वचन-योग को रोकते हैं। अनन्तर सूक्ष्म काययोग से बादर काययोग को रोकते हैं, और पीछे उसी सूक्ष्म काययोग से क्रमशः सूक्ष्म मनोयोग को तथा सूक्ष्म वचनयोग को रोकते हैं। अन्त में वे केवलज्ञानी भगवान्, सूक्ष्मक्रियाऽनिवृत्ति-शुक्लध्यान के बल से सूक्ष्म काययोग को भी रोक देते हैं। इस तरह सब योगों का निरोध हो जाने से केवलज्ञानी भगवान् अयोगी बन जाते हैं। और उसी सूक्ष्मक्रियाऽनिवृत्ति-शुक्लध्यान की सहायता से अपने शरीर के भीतरी पोले भाग को—मुख, उदर-आदि भाग को—आत्मा के प्रदेशों से पूर्ण कर देते हैं। उनके आत्म-प्रदेश इतने संकुचित हो जाते हैं कि वे शरीर के तीसरे हिस्से में ही समा जाते हैं। इसके बाद वे अयोगिकेवलि-भगवान् समुच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपाति-शुक्लध्यान को प्राप्त करते हैं और मध्यम रीति से पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण करने में जितना समय लगता है उतने समय का "शैलेशी करण" करते हैं। सुमेरु-पर्वत के समान निश्चल अवस्था—अथवा सर्व-संवर-रूप योग-निरोध-अवस्थाको "शैलेशी" कहते हैं। तथा उस अवस्था में वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म

की गुण-श्रेणि से और आयुकर्म की यथास्थितश्रेणि से निर्जरा करना उसे "शैलेशीकरण" कहते हैं। शैलेशीकरण को प्राप्त करके अयोगि-केवलज्ञानी उसके अन्तिम समय में वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु इन चार भवोपग्राहि-कर्मों का सर्वथा क्षय कर देते हैं। और उक्त कर्मों का क्षय होते ही वे एकसमयमात्र में ऋजु-गति से ऊपर की ओर सिद्धि-क्षेत्र में चले जाते हैं। सिद्धि-क्षेत्र, लोक के ऊपर के भाग में वर्तमान है। इस के आगे किसी आत्मा या पुद्गल की गति नहीं होती। इसका कारण यह है कि आत्मा को या पुद्गल को गति करने में धर्मास्तिकाय-द्रव्य की सहायता अपेक्षित होती है। परन्तु, लोक के आगे—अर्थात् अलोक में धर्मास्तिकाय-द्रव्य का अभाव है। कर्म-मल के हट जाने से शुद्ध आत्मा की ऊर्ध्व-गति इस प्रकार होती है जिस प्रकार कि मिट्टी के लेपों से युक्त तुम्बा, लेपों के हट जाने पर जल के तल से ऊपर की ओर चला आता है ॥ १४ ॥

गुणस्थानों का स्वरूप कहा गया। अब बन्ध के स्वरूप को दिखा कर प्रत्येक गुणस्थान में बन्ध-योग्य कर्म-प्रकृतियों को १० गाथाओं से दिखाते हैं:—

> अभिनव-कम्म-ग्गहणं, बंधो ओहेण तत्थवीस-सयं।
> तित्थयराहारग-दुग-वज्जं मिच्छंमि सत्तर-सयं॥३॥
> (अभिनव-कर्म-ग्रहणं बन्ध ओघेन तत्र विंशति-शतम्।
> तीर्थकराहारक-द्विक-वर्जं मिथ्यात्वे सप्तदश-शतम् ॥३॥)

अर्थ—नये कर्मों के ग्रहण को बन्ध कहते हैं। सामान्यरूप से—अर्थात् किसी खास गुणस्थान की अथवा किसी जीव-विशेष की विवक्षा किये विना ही, बन्ध में १२० कर्म-प्रकृतियाँ

मानी जाती हैं—अर्थात् सामान्यरूप से बन्ध-योग्य १२० कर्म-प्रकृतियाँ हैं। १२० कर्म-प्रकृतियों में से तीर्थङ्कर-नामकर्म और आहारक-द्विक को छोड़कर शेष ११७ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यादृष्टिगुणस्थान में होता है।

भावार्थ—जिस आकाश-क्षेत्र में आत्मा के प्रदेश हैं उसी क्षेत्र में रहनेवाली कर्म-योग्य पुद्गलस्कन्धों की वर्गणाओं को कर्म-रूपसे परिणत कर. जीव के द्वारा उन का ग्रहण होना यही अभिनव-कर्म-ग्रहण है। कर्म-योग्य पुद्गलों का कर्म-रूप से परिणमन मिथ्यात्व-आदि हेतुओं से होता है। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार, जीव के वैभाविक (विकृत) स्वरूप हैं, और इसी से वे, कर्म-पुद्गलों के कर्म-रूप बनने में निमित्त होते हैं। कर्म-पुद्गलों में जीव के ज्ञान-दर्शन-आदि स्वाभाविक गुणों को आवरण करने की शक्ति का हो जाना यही कर्म-पुद्गलों का कर्म-रूप बनना कहाता है। मिथ्यात्व-आदि जिन वैभाविक स्वरूपों से कर्म-पुद्गल कर्म-रूप बन जाते हैं, उन वैभाविक-स्वरूपों को भाव-कर्म समझना चाहिये। और कर्म-रूप परिणाम को प्राप्त हुए पुद्गलों को द्रव्य-कर्म समझना चाहिये। पहिले ग्रहण किये गये द्रव्य-कर्म के अनुसार भाव-कर्म होते हैं और भाव-कर्म के अनुसार फिर से नवीन द्रव्य-कर्मों का संबन्ध होता है। इस प्रकार द्रव्य-कर्म से भाव-कर्म और भाव-कर्म से द्रव्य-कर्म ऐसी कार्य-कारण-भाव की अनादि परंपरा चली आती है। आत्माके साथ बँधे हुये कर्म जब परिणाम-विशेष से एक स्वभाव का परित्याग कर दूसरे स्वभाव को प्राप्त कर लेते हैं तब उस स्वभावान्तर-प्राप्ति को संक्रमण समझना चाहिये; बन्ध नहीं। इसी अभिप्राय को

जनाने के लिये कर्म-ग्रहण-मात्र को बन्ध न कह कर, गाथा में अभिनव-कर्म-ग्रहण को बन्ध कहा है। जीव के मिथ्यात्व-आदि परिणामों के अनुसार कर्म-पुद्गल १२० रूपों में परिणत हो सकते हैं इसीसे १२०-कर्म-प्रकृतियाँ बन्ध योग्य मानी जाती हैं यद्यपि कोई एक जीव किसी भी अवस्था में एक समय में कर्म-पुद्गलों को १२० रूपों में परिणत नहीं कर सकता—अर्थात् १२० कर्म प्रकृतियों को बाँध नहीं सकता; परन्तु अनेक जीव एक समय में ही१२०कर्म-प्रकृतियों को बाँध सकते हैं।इसी तरह एक जीव भी जुदी जुदी अवस्था में जुदे जुदे समय सब मिला कर १२० कर्म-प्रकृतियों को भी बाँध सकता है। अतएव ऊपर कहा गया है कि किसी खास गुणस्थानकी, और किसी खास जीव की विवक्षा किये विना बन्ध-योग्य कर्म-प्रकृतियाँ १२०-मानी जाती हैं। इसी से १२०-कर्म-प्रकृतियों के बन्ध को सामान्य बन्ध या ओघ-बन्ध कहते हैं।

बन्ध-योग्य १२० कर्म-प्रकृतियाँ ये हैं:—

१—ज्ञानावरण की ५-कर्म-प्रकृतियाँ, जैसे;-(१)मतिज्ञानावरण,(२)श्रुतज्ञानावरण,(३)अवधिज्ञानावरण,(४)मनः पर्याय-ज्ञानावरण और (५) केवलज्ञानावरण।

२—दर्शनावरण की ९-प्रकृतियाँ, जैसे;-(१) चक्षुर्दर्शनावरण,(२)अचक्षुर्दर्शनावरण;(३)अवधिदर्शनावरण, (४)केवल-दर्शनावरण,(५)निद्रा,(६)निद्रानिद्रा,(७)प्रचला, (८) प्रचला-प्रचला और (९)स्त्यानर्द्धि।

३—वेदनीय की २-प्रकृतियाँ,जैसे:-(१) सातवेदनीय और (२) असातवेदनीय।

४—मोहनीय की २८-प्रकृतियाँ, जैसे;—मिथ्यात्वमोहनीय (१), अनन्तानुवन्धि-क्रोध, अनन्तानुवन्धि-मान, अनन्तानुवन्धि-माया, अनन्तानुवन्धि-लोभ (४) अप्रत्याख्यानावरण-क्रोध, अप्रत्याख्यानावरण-मान, अप्रत्याख्यानावरण-माया, अप्रत्याख्यानावरण-लोभ(४)प्रत्याख्यानावरणक्रोध, प्रत्याख्यानावरणमान, प्रत्याख्यानावरणमाया, प्रत्याख्यानावरणलोभ (४) संज्वलनक्रोध, संज्वलनमान, संज्वलनमाया, संज्वलनलोभ (४), स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद (३), हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा (६)।

५—आयु कर्म की(४)-प्रकृतियाँ,जैसे;—(१)-नारक-आयु, (२)-तिर्यञ्च-आयु, (३)-मनुष्य-आयु और (४)-देव-आयु

६-नामकर्म की ६७-प्रकृतियाँ-जैसे;-(१) नरकगतिनामकर्म, तिर्यञ्चगतिनामकर्म,मनुष्यगतिनामकर्म और देवगतिनामकर्म, ये चार गतिनामकर्म(२)एकेन्द्रियजातिनामकर्म,द्वीन्द्रियजातिनामकर्म, त्रीन्द्रियजातिनामकर्म, चतुरिन्द्रियजातिनामकर्म और पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्म, ये पाँच जातिनामकर्म (३) औदारिकशरीरनामकर्म वैक्रियशरीरनामकर्म, आहारकशरीरनामकर्म, तैजसशरीरनामकर्म और कार्मणशरीरनामकर्म-ये पाँच शरीरनामकर्म । (४) औदारिकअङ्गोपाङ्गनामकर्म, वैक्रियअङ्गोपाङ्गनामकर्म और आहारकअङ्गोपाङ्गनामकर्म ये तीन अङ्गोपाङ्गनामकर्म (५)। वज्रऋषभनाराचसंहनननामकर्म, ऋषभनाराचसंहनननामकर्म । नाराचसंहनननामकर्म, अर्धनाराचसंहनननामकर्म, कीलिकासंहनननामकर्म, सेवार्तसंहनननामकर्म-ये छः संहनननामकर्म(६)समचतुरस्रसंस्थाननामकर्म, न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थाननामकर्म, सादि-

संस्थाननामकर्म, वामनसंस्थाननामकर्म, कुब्जसंस्थाननामकर्म और हुंडसंस्थाननामकर्म ये छः संस्थाननामकर्म (७) वर्णनामकर्म(८) गन्धनामकर्म(९) रसनामकर्म (१०) स्पर्शनामकर्म (११) नरकानुपूर्वीनामकर्म, तिर्यगानुपूर्वीनामकर्म, मनुष्यानुपूर्वीनामकर्म और देवानुपूर्वीनामकर्म—ये चार आनुपूर्वीनामकर्म (१२) शुभविहायोगतिनामकर्म और अशुभविहायोगति नामकर्म ये दो विहायोगतिनामकर्म-ये ३९ भेद बारह पिण्ड-प्रकृतियों के हुये; क्योंकि बन्धननामकर्म और संघातननामकर्म—इन दो पिण्ड-प्रकृतियों का समावेश शरीरनामकर्म में ही किया जाता है।(१)पराघात-नामकर्म,(२)उपघातनामकर्म, (३)उच्छ्वासनामकर्म,(४)आतपनामकर्म,(५)उद्योतनामकर्म,(६) अगुरुलघुनामकर्म, (७) तीर्थङ्करनामकर्म (८) निर्माणनामकर्म-ये आठ प्रत्येकनामकर्म। (१)त्रसनामकर्म,(२)बादरनामकर्म, (३) पर्याप्तनामकर्म,(४) प्रत्येकनामकर्म, (५) स्थिरनामकर्म (६) शुभनामकर्म, (७)सुभगनामकर्म,(८)सुस्वरनामकर्म,(९) आदेयनामकर्म और (१०) यशःकीर्त्तिनामकर्म-ये त्रसदशकनामकर्म (१)स्थावरनामकर्म,(२)सूक्ष्मनामकर्म,(३)अपर्याप्तनामकर्म, (४) साधारणनामकर्म,(५)अस्थिरनामकर्म,(६) अशुभनामकर्म, (७) दुर्भगनामकर्म,(८)दुःस्वर-नामकर्म,अनादेयनामकर्म और (१०) अयशःकीर्त्तिनामकर्म-ये स्थावरदशकनामकर्म । ये कुल ६७ भेद हुये।

७—गोत्र-कर्म की दो प्रकृतियाँ, जैसेः-(१) उच्चैर्गोत्र और (२) नीचैर्गोत्र।

८—अन्तरायकर्म की५-कर्म-प्रकृतियाँ, जैसे;—(१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय,(३)भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय, और (५) वीर्यान्तराय।

इन १२० कर्म-प्रकृतियों में से तीर्थङ्करनामकर्म, आहारक-शरीर और आहारकअङ्गोपाङ्ग इन तीन कर्म-प्रकृतियों का वन्ध, मिथ्यात्वगुणस्थानवर्ती जीवों को नहीं होता। इस का कारण यह है कि तीर्थङ्करनामकर्म का वन्ध, सम्यक्त्व से होता है और आहारक-द्विक का वन्ध, अप्रमत्तसंयम से। परन्तु मिथ्यादृष्टि-गुणस्थान में जीवों को न तो सम्यक्त्व का ही सम्भव है और न अप्रमत्तसंयम का; क्योंकि चौथे गुणस्थान से पहले सम्यक्त्व हो ही नहीं सकता तथा सातवें गुणस्थान से पहले अप्रमत्त-संयम भी नहीं हो सकता। उक्त तीन कर्म-प्रकृतियों के विना शेष११७ कर्म-प्रकृतियों का वन्ध मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग-इन चार कारणों से होता है, इसीसे मिथ्यादृष्टिगुणस्थान में वर्तमान जीव शेष ११७ कर्म-प्रकृतियों को यथासम्भव बाँध सकते हैं ॥३॥

नरयतिगजाइथावर चउ, हुंडायवछिवट्ठ नपुमिच्छं।
सोलंतो इगहिय सय, सासणि तिरिथीणदुहगतिगं ॥४॥
नरकत्रिकजातिस्थावरचतुष्क, हुंडातपसेवार्त नपुंमिथ्यात्वम्
षोडशान्तएकाधिकशतं, सास्वादने तिर्यक्स्त्यानर्द्धिदुर्भगत्रिकम्

अणमज्झागिइ संघयण चउ, निउज्जोय कुखगइत्थिति।
पणवीसंतो मीसे चउसयरिदुआउअअवन्धा ॥५॥
अनमध्याकृतिसंहनन चतुष्कनीचोद्योत कुखगतिस्त्रीति
पंचविंशत्यन्तो मिश्रे, चतुःसप्तति द्व्यायुष्काऽवन्धात् ॥४॥

अर्थ—सास्वादन-गुणस्थान में १०१ कर्म-प्रकृतियों का वन्ध होता है। क्योंकि पूर्वोक्त ११७ कर्म-प्रकृतियों में से नरक-त्रिक, जातिचतुष्क, स्थावरचतुष्क, हुंडसंस्थान, आतपनाम-कर्म, सेवार्तसंहनन, नपुँसकवेद और मिथ्यात्व-मोहनीय

इन १६ कर्म-प्रकृतियों का बन्धविच्छेद मिथ्यादृष्टिगुणस्थान के अन्त में ही हो जाता है। इस से वे १६कर्म-प्रकृतियाँ पहले गुणस्थान से आगे नहीं बाँधी जा सकतीं तथा तिर्यञ्च-त्रिक, स्त्यानर्द्धित्रिक, दुर्भगत्रिक अनन्तानुबन्धिकषाय-चतुष्क, मध्यमसंस्थानचतुष्क, मध्यमसंहननचतुष्क, नीच-गोत्र, उद्योतनामकर्म, अशुभविहायोगतिनामकर्म और स्त्रीवेद इन २५-कर्म-प्रकृतियों का बन्धविच्छेद दूसरे गुणस्थान के अन्तिम समय में ही हो जाता है। इस से दूसरे गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों में उन २५-कर्म-प्रकृतियों का बन्ध हो नहीं सकता। इस प्रकार पूर्वोक्त १०१-कर्म-प्रकृतियों में से तिर्यञ्च-त्रिक-आदि उक्त२५ कर्म-प्रकृतियों के घटा देने से शेष ७६-कर्म-प्रकृतियाँ रह जाती हैं। उन ७६-कर्म-प्रकृतियों में से भी मनुष्य-आयु तथा देव-आयु को छोड़कर शेष ७४ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थान में (तीसरे गुणस्थान में)हो सकता है ॥५॥

भावार्थ—नरकगति, नरक-आनुपूर्वी और नरक-आयु-इन तीन कर्म-प्रकृतियों को नरकत्रिक शब्द से लेना चाहिये जातिचतुष्क-शब्द का मतलब एकेन्द्रियजाति,द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति और चतुरिन्द्रियजाति इन चार जातिनामकर्मों से है। स्थावरचतुष्कशब्द,स्थावरनामकर्म से साधारण-नामकर्म-पर्यन्त चार कर्म-प्रकृतियों का बोधक है। वे चार प्रकृतियाँ ये हैं-स्थावरनामकर्म, सूक्ष्मनामकर्म, अपर्याप्त-नामकर्म और साधारणनामकर्म।

नरक-त्रिक से लेकर मिथ्यात्व-मोहनीय-पर्यन्त, जो-१६ कर्म-प्रकृतियाँ ऊपर दिखाई गई हैं वे अत्यन्त अशुभरूप हैं

तथा बहुत कर नारक-जीवों के,एकेन्द्रिय जीवों के और विक-लेन्द्रिय जीवों के योग्य हैं। इसी से ये सोलह कर्म प्रकृतियाँ मिथ्यात्व-मोहनीयकर्म के उदय से ही बाँधी जाती हैं। मि-थ्यात्व-मोहनीयकर्म का उदय पहले गुणस्थान के अन्तिम समय तक रहता है दूसरे गुणस्थान के समय नहीं। अतएव मिथ्यात्वमोहनीय-कर्म के उदय से बँधनेवाली उक्त १६-कर्म-प्रकृतियों का बन्ध भी पहले गुणस्थान के अन्तिम समयतक हो सकता है दूसरे गुणस्थान के समय नहीं। इसी लिये पहले गुणस्थान में जिन ११७-कर्म-प्रकृतियों का बन्ध कहा गया है उन में से उक्त १६-कर्म-प्रकृतियों को छोड़ कर शेष १०१-कर्म-प्रकृतियों का बन्ध दूसरे गुणस्थान में माना जाता है।

तिर्यञ्चत्रिकशब्द से तिर्यञ्चगति, तिर्यञ्च-आनुपूर्वी और तिर्यञ्च-आयु इन तीन कर्म-प्रकृतियों का ग्रहण होता है। स्त्यानर्द्धित्रिक शब्द से निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला और स्त्यानर्द्धि इन तीन कर्म-प्रकृतियों का तथा दुर्भगत्रिक-शब्द से दुर्भगनामकर्म, दुःस्वरनामकर्म और अनादेयनामकर्म इन तीन कर्म-प्रकृतियों का ग्रहण होता है। अनन्तानुबन्धि-चतुष्कशब्द, अन-न्तानुबन्धिक्रोध, अनन्तानुबन्धिमान, अनन्तानुबन्धि-माया और अनन्तानुबन्धिलोभ इन चार कषायों का बो-धक है। मध्यमसंस्थान-चतुष्कशब्द-आदि के और अन्त के सं-स्थान को छोड़ मध्य के शेष चार संस्थानों का बोधक है। जैसेः-न्यग्रोधपरिमडल-संस्थान, सादिसंस्थान, वामन-संस्थान और कुब्जसंस्थान। इसी तरह मध्यम-संहनन-चतुष्क शब्द से आदि और अन्त के संहनन के सिवा बाच के चार संहनन ग्रहण किये जाते हैं। वे चार संहनन ये हैं

ऋषभनाराचसंहनन, नाराचसंहनन, अर्धनाराचसंहनन और कीलिकासंहनन ।

तिर्यञ्चत्रिक से लेकर स्त्रीवेदपर्यन्त जो २५-कर्म-प्रकृतियाँ ऊपर कही हुई हैं उन का बन्ध अनन्तानुबन्धि-कषाय के उदय से होता है । अनन्तानुबन्धिकषाय का उदय पहले और दूसरे गुणस्थानक में ही होता है, तीसरे आदि गुणस्थानों में नहीं । इसी से तिर्यञ्चत्रिक-आदि उक्त पच्चीस कर्म-प्रकृतियाँ भी दूसरे गुणस्थान के चरमसमयपर्यन्त ही बाँधी जा सकती हैं, परन्तु तीसरे आदि गुणस्थानों में नहीं बाँधी जा सकतीं । तीसरे गुणस्थान के समय जीव का स्वभाव ही ऐसा होता है कि जिस से उस समय आयु का बन्ध होने नहीं पाता । इसी से मनुष्य-आयु तथा देव-आयु इन दो आयुओं का बन्ध भी तीसरे गुणस्थानक में नहीं होता। नरक-आयु तो नरकत्रिक-आदि पूर्वोक्त १६-कर्म-प्रकृतियों में ही गिनी जा चुकी है तथा तिर्यञ्च-आयु भी तिर्यञ्चत्रिक-आदि पूर्वोक्त पच्चीस कर्म-प्रकृतियों में आ जाती है । इस प्रकार दूसरे गुणस्थान में बन्धयोग्य जो १०१-कर्म-प्रकृतियाँ हैं उन में से तिर्यञ्चत्रिक-आदि पूर्वोक्त २५-तथा मनुष्य-आयु और देव-आयु कुल २७-कर्म-प्रकृतियों के घट जाने से शेष ७४ कर्म-प्रकृतियाँ तीसरे गुणस्थानक में बन्ध योग्य रहती हैं ॥ ४ ॥

सम्मे सगसयरि जिणाउबंधि, वइर नरतिग बियकसाया ।
उरल दुगंतो देसे, सत्तट्ठी तिअक सायंतो ॥ ६ ॥

सम्यक्त्वे सप्तसप्तति र्जिनायुर्बन्धे, वज्रनरत्रिक द्वितीय कषायाः ।
औदारिकाद्विकान्तो देशे, सप्तषष्टिस्तृतीयकषायान्तः ॥ ६ ॥

तेवट्ठि पमत्ते सोग अरइ, अथिर दुग अजस अस्सायं ।

वुच्छिज्ज छच्च सत्तव, नेइ सुराउं जयानिट्ठं ॥ ७ ॥
त्रिषष्टिः प्रमत्ते शोकारत्यस्थिर द्विकायशोऽसातम् ।
व्यवच्छिद्यंते षट्च सप्त वा नयति सुरायुर्यदा निष्ठाम् ॥७॥

गुणसट्ठि अपमत्ते सुराउबंधंतु जइ इहागच्छे ।
अन्नह अट्ठावण्णा जं आहारग दुगं बंधे ॥८॥
एकोनषष्टिरप्रमत्ते सुरायुर्वध्नन् यदीहागच्छेत् ।
अन्यथाऽष्टपञ्चाशद्यदाऽऽहारक द्विकं बन्धे ॥८॥

अर्थ—अविरतसम्यग्दृष्टिनामक चौथे गुणस्थान में ७७ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध हो सकता है। क्योंकि तीसरे गुणस्थान की बन्धयोग्य पूर्वोक्त ७४ कर्म-प्रकृतियों को, तथा जिननाम-कर्म, मनुष्य-आयु और देव-आयु को चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव बाँध सकते हैं । देशविरति-नामक पाँचवें गुणस्थान में ६७ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध हो सकता है। क्योंकि-पूर्वोक्त ७७-कर्म-प्रकृतियों में से वज्रऋषभनाराचसंहनन, मनुष्यत्रिक, अप्रत्याख्यानावरणचारकषाय और औदारिकाद्विक इन १० कर्म-प्रकृतियों का बन्ध-विच्छेद चौथे गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाता है। इस से चौथे गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों में उन १० कर्म-प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता। पाँचवें गुणस्थान के अंतिम-समय में तीसरे चारकषायों का—अर्थात् प्रत्याख्यानावरण-कषाय की चार प्रकृतियों का बन्ध-विच्छेद हो जाता है ॥ ६ ॥ अतएव पूर्वोक्त ६७-कर्म-प्रकृतियोंमें से उक्त चार कषायों के घटजाने से शेष ६३ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध प्रमत्त-संयत-नाम के छट्ठे गुणस्थान में हो सकता है। छट्ठे गुणस्थान के अंतिम समय में शोक, अरति, अस्थिरद्विक, अयशःकीर्तिनामकर्म और असातवेदनीय इन छः कर्म-प्रकृतियों का बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इससे उन छः कर्म-प्रकृतियों का बन्ध छट्ठे गुणस्थान से आगेके गुणस्थानों

में नहीं होता। यदि कोई जीव छट्ठे गुणस्थान में देव-आयु के बन्ध का प्रारम्भ कर उसे उसी गुणस्थान में पूरा कर देता है, तो उस जीव की अपेक्षा से अरति, शोक-आदि उक्त ६-कर्म-प्रकृतियाँ तथा देवआयु कुल ७-कर्म-प्रकृतियों का भी बन्ध-विच्छेद छट्ठे गुणस्थान के अन्तिम-समय में माना जाता है ॥ ७ ॥

जो जीव छट्ठे गुणस्थान में देव-आयु के बन्ध का प्रारम्भ कर उसे उसी गुणस्थान में समाप्त किये विना ही, सातवें गुणस्थान को प्राप्त करता है अर्थात्-छट्ठे गुणस्थान में देव-आयु का बन्ध प्रारम्भ कर सातवें गुणस्थान में ही उसे समाप्त करता है, उस जीव को सातवें गुणस्थान में ५९-कर्म-प्रकृतियों का बन्ध होता है। इसके विपरीत जो जीव छट्ठे गुणस्थान में प्रारम्भ किये गये देव-आयु के बन्ध को, छट्ठे गुणस्थान में ही समाप्त करता है-अर्थात् देव-आयु का बन्ध समाप्त करने के बाद ही सातवें गुणस्थान को प्राप्त करता है उस जीव को सातवें गुणस्थान में ५८ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध होता है; क्योंकि सातवें गुणस्थान में आहारकद्विक का बन्ध भी हो सकता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व होने से तीर्थङ्कर-नामकर्म बाँधा जा सकता है। तथा चौथे गुणस्थान में वर्तमान देव तथा नारक, मनुष्य-आयु को बाँधते हैं। और चतुर्थ गुणस्थान-वर्ती मनुष्य तथा तिर्यञ्च देव-आयु को बाँधते हैं। इसी तरह चौथे गुणस्थान में उन ७४ कर्म-प्रकृतियों का भी बन्ध हो सकता है, जिनका कि बन्ध तीसरे गुणस्थान में होता है अत-एव सब मिलाकर ७७ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध चौथे गुणस्थानक

में माना जाता है। अप्रत्याख्यानावरण-क्रोध-मान-माया और लोभ इन चार कषायों का बन्ध चौथे गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही होता है, इस से आगे के गुणस्थानों में नहीं होता; क्योंकि पञ्चम-आदि गुणस्थानों में अप्रत्याख्यानावरण-कषाय का उदय नहीं होता। और कषाय के बन्ध के लिये यह साधारण नियम है कि जिस कषाय का उदय जितने गुणस्थानों में होता है उतने गुणस्थानों में ही उस कषाय का बन्ध हो सकता है। मनुष्यगति-मनुष्य-आनुपूर्वी और मनुष्य-आयु ये तीन कर्म-प्रकृतियाँ केवल मनुष्य-जन्म में ही भोगी जा सकती हैं। इस लिये उनका बन्ध भी चौथे गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही हो सकता है। क्योंकि पाँचवें-आदि गुणस्थानों में मनुष्य-भव-योग्य कर्म-प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता। किन्तु देव-भव-योग्य कर्म-प्रकृतियों का ही बन्ध होता है। इस प्रकार वज्र-ऋषभ-नाराच-संहनन और औदारिकद्विक-अर्थात् औदारिक शरीर तथा औदारिक अङ्गोपाङ्ग इन तीन कर्म-प्रकृतियों का बन्ध भी पाँचवें आदि गुणस्थानों में नहीं होता; क्योंकि वे तीन कर्म-प्रकृतियाँ मनुष्य के अथवा तिर्यञ्च के जन्म में ही भोगने योग्य हैं और पञ्चम-आदि गुणस्थानों में देव के भव में भोगी जासकें ऐसी कर्म-प्रकृतियों का ही बन्ध होता है। इस तरह चौथे गुणस्थान में जिन ७७कर्म प्रकृतियों का बन्ध होता है उन में से वज्रऋषभ-नाराच-संहनन-आदि उक्त १०-कर्म-प्रकृतियों के घटा देने से शेष ६७ कर्म-प्रकृतियों का ही बन्ध पाँचवें गुणस्थानक में होता है।

प्रत्याख्यानावरण-क्रोध, प्रत्याख्यानावरण-मान, प्रत्याख्यानावरणमाया और प्रत्याख्यानावरण-लोभ इन चार कषायों का

बन्ध पञ्चम-गुणस्थान के चरम समय तक ही होता है, आगे के गुणस्थानों में नहीं होता; क्योंकि छट्ठे आदि गुणस्थानों में उन कषायों का उदय ही नहीं है। इस लिये पाँचवें गुणस्थान की बन्ध-योग्य ६७ कर्म-प्रकृतियों में से, प्रत्याख्यानवरण-क्रोध-आदि उक्त चार कषायों को छोड़ कर शेष ६३ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध छट्ठे गुणस्थानक में माना जाता है।

सातवें गुणस्थान को प्राप्त करनेवाले जीव दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो छट्ठे गुणस्थान में देव-आयु के बन्ध का प्रारम्भ कर, उसे उस गुणस्थान में समाप्त किये विना ही सातवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं; और फिर सातवें गुणस्थान में ही देव-आयु के बन्ध को समाप्त करते हैं। तथा दूसरे वे, जो देव-आयु के बन्ध का प्रारम्भ तथा उसकी समाप्ति दोनों छट्ठे गुणस्थान में ही करते हैं और अनन्तर सातवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं। पहले प्रकार के जीवों को छट्ठे गुणस्थान के अन्तिम-समय में अरति, शोक, अस्थिर-नाम-कर्म, अशुभनाम-कर्म, अयशःकीर्तिनाम-कर्म और असातवेदनीय, इन छः कर्म-प्रकृतियों का बन्धविच्छेद होता है। और दूसरे प्रकार के जीवों को छट्ठे गुणस्थान के अन्तिम समय में उक्त ६-कर्म प्रकृतियाँ तथा देव-आयु, कुल ७ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध-विच्छेद होता है। अतएव छट्ठे गुणस्थान की बन्ध-योग्य ६३-कर्म-प्रकृतियों में से अरति, शोक-आदि उक्त ६-कर्म प्रकृतियों के घटादेने पर, पहले प्रकार के जीवों के लिये सातवें गुणस्थान में बन्ध योग्य ५७-कर्म-प्रकृतियाँ शेष रहती हैं। और अरति, शोक-आदि उक्त ६-तथा देव-आयु, कुल ७ कर्म-प्रकृतियों के घटा देने पर दूसरे प्रकार के जीवों के लिये सातवें गुणस्थान में बन्ध-योग्य ५६-कर्म-प्रकृतियाँ शेष रहती

हैं। परन्तु आहारक-शरीर तथा आहारक-अङ्गोपाङ्ग इन दो कर्म-प्रकृतियों को उक्त दोनों प्रकार के जीव सातवें गुणस्थान में बाँध सकते हैं। अतएव पहले प्रकार के जीवों की अपेक्षा से सातवें गुणस्थान में उक्त ५७-और २--कुल ५६-कर्म-प्रकृतियों का बन्ध माना जाता है। दूसरे प्रकार के जीवों की अपेक्षा से उक्त ५६और २-कुल ५८ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध सातवें गुणस्थान में माना जाता है ॥ ६७ ॥ ८ ॥

अडवन्न अपुव्वाइंमि निद्द दुगंतो छपन्न पणभागे ।
सुर दुग पणिंदि सुखगइ तसनव उरलविणु तणुवंगा ॥ ६ ॥
अष्टापञ्चाशदपूर्वादो निद्राद्विकान्तः षट्पञ्चाशत् पञ्चभागे ।
सुरद्विक पञ्चेन्द्रिय सुखगति त्रसनवकमौदारिकाद्विना तनू-पाङ्गानि ॥ ६ ॥ ७ ॥

समचउरनिमिण जिणवण्ण अगुरुलहु चउ छलंसि तीसंतो ।
चरमे छवीस बंधो हासरई कुच्छभयभेओ ॥ १० ॥
समचतुरस्रनिर्माण जिनवर्णाऽगुरुलघुचतुष्कं पष्ठांशे त्रिशदन्तः
चरमे षड्विंशतिबन्धो हास्यरतिकुत्साभयभेदः
अनियट्टि भागपणगे, इगेग हीणो दुवीसवीहबंधो ।
पुम संजलण चउण्हं, कमेण छेओ सतरसुहुमे ॥ १० ॥
अनिवृत्ति भागपञ्चक, एकैकहीनो द्वाविंशतिविधबन्धः ।
पुंसंज्वलन चतुर्णां क्रमेणच्छेदः सप्तदशसूक्ष्मे ॥ ११ ॥

अर्थ—आठवें गुणस्थान के पहले भाग में, ५८ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध हो सकता है। दूसरे भाग से लेकर छट्ठे भाग तक पाँच भागों में ५६-कर्म-प्रकृतियों का बन्ध होता है। क्योंकि निद्रा और प्रचला इन दो कर्म-प्रकृतियों का बन्ध-विच्छे-

द पहले भाग के अन्त में ही हो जाता है । इस से वे दो कर्म-प्रकृतियाँ आठवें गुणस्थान के पहले भाग के आगे बाँधी नहीं जा सकतीं । तथा सुरद्विक (२) (देवगति देव-आनुपूर्वी,) पञ्चेन्द्रियजाति.(३) शुभ-विहायोगति(४),त्रसनवक(१३)(त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर. शुभ, सुभग, सुस्वर और आदेय), औदारिक शरीर के सिवा चार शरीर नामकर्म,जैसेः-वैक्रियशरीरनामकर्म (१४), आहारक-शरीरनामकर्म (१५), तैजसशरीरनामकर्म (१६.) और कार्मण-शरीरनामकर्म (१७). औदारिक-अङ्गोपाङ्ग को छोड़कर दो अङ्गोपाङ्ग, वैक्रिय-अङ्गोपाङ्ग (१८) तथा आहारक-अङ्गोपाङ्ग १६) ॥ समचतुरस्रसंस्थान(२०),निर्माणनामकर्म(२१),तीर्थङ्करनामकर्म(२२), वर्ण(२३),गन्ध(२४),रस(२५)और स्पर्शनामकर्म(२६,)अगुरुलघुचतुष्क; जैसे;-अगुरुलघुनामकर्म(२७)उपघातनामकर्म(२८) पराघातनामकर्म (२९), और उच्छ्वासनामकर्म (३०) ये नाम कर्म की (३०`प्रकृतियाँ आठवें गुणस्थान के छट्ठे भाग तक ही बाँधी जाती हैं; इस से आगे नहीं । अतएव पूर्वोक्त ५६-कर्म-प्रकृतियों में से नाम-कर्म की इन ३०-प्रकृतियों के घटा देने पर शेष २६-कर्म प्रकृतियों का ही बन्ध आठवें गुणस्थान के सातवें भाग में होता है । हास्य, रति, जुगुप्सा और भय इन नो-कषाय—मोहनीयकर्मकी चार प्रकृतियों का बन्ध-विच्छेद आठवें गुणस्थान के सातवें भाग के अन्तिम समय में हो जाता है । इस से उन ४ प्रकृतियों का बन्ध नववें आदि गुणस्थानों में नहीं होता ॥१०॥

अतएव पूर्वोक्त २६-कर्म-प्रकृतियों में से हास्य-आदि उक्त

चार प्रकृतियों को घटा कर शेष कर्म-प्रकृतियों का वन्ध नववें गुणस्थान के पहले भाग में होता है। पुरुषवेद, संज्वलन-क्रोध, संज्वलन-मान, संज्वलन-माया और संज्वलन-लोभ इन पाँच प्रकृतियों में से एक एक प्रकृति का बन्ध-विच्छेद क्रमशः नववें गुणस्थान के पाँच भागों में से प्रत्येक भाग के अन्तिम समय में होता है, जैसे;-पूर्वोक्त २२-कर्म-प्रकृतियों में से पुरुष-वेद का बन्ध-विच्छेद नववें गुणस्थान के पहले भाग के अन्तिम-समय में हो जाता है। इससे शेष २१-कर्म-प्रकृतियों का वन्ध दूसरे भाग में हो सकता है। इन २१-कर्म-प्रकृतियों में से संज्वलन-क्रोध का वन्ध-विच्छेद दूसरे भाग के अन्तिम समय में हो जाता है। इस से शेष २०-कर्म-प्रकृतियों का वन्ध तीसरे भाग में हो सकता है। इन २०-कर्म-प्रकृतियों में से संज्वलन-मान का बन्ध तीसरे भाग के अन्तिम-समय तक ही हो सकता है, आगे नहीं; इसी से शेष १६-कर्म प्रकृतियों का वन्ध, चौथे भाग में होता है। तथा इन १६-कर्म-प्रकृतियों में से संज्वलन-माया चौथे भाग के अन्तिम-समय तक ही बाँधी जाती है, आगे नहीं। अतएव शेष १८-कर्म-प्रकृतियों का वन्ध नववें गुणस्थान के पाँचवें भाग में होता है। इस प्रकार इन १८-कर्म प्रकृतियों में से भी संज्वलन-लोभ का बन्ध नववें गुणस्थान के पाँचवें भाग-पर्यन्त ही होता है, आगे दसवें आदि गुणस्थानों में नहीं होता। अतएव उन १८-कर्म-प्रकृतियों में से संज्वलन-लोभ को छोड़ कर शेष १७-कर्म-प्रकृतियों का वन्ध दसवें गुणस्थान में होता है॥ ११॥

भावार्थ—सातवें गुणस्थान से लेकर आगे के सब गुणस्थानों में परिणाम इतने स्थिर और शुद्ध हो जाते हैं कि जिस से उन गुणस्थानों में आयु का बन्ध नहीं होता। यद्यपि सातवें

गुणस्थान में ५६-कर्म-प्रकृतियों के बन्ध का भी पक्ष ऊपर कहा गया है और उसमें देव-आयु को गणना की गई है; तथापि यह समझना चाहिये कि छट्ठे गुणस्थान में प्रारम्भ किये हुये देव-आयु के बन्ध की सातवें गुणस्थान में जो समाप्ति होती है उसी की अपेक्षा से सातवें गुणस्थान की बन्ध-योग्य ५६-कर्म-प्रकृतियों में देव-आयु की गणना की गई है। सातवें गुणस्थान में देव-आयु के बन्ध का प्रारम्भ नहीं होता और आठवें आदि गुणस्थानों में तो देव-आयु के बन्ध का प्रारम्भ और समाप्ति दोनों नहीं होते। अतएव देव-आयु को छोड़ ५६-कर्म-प्रकृतियाँ आठवें गुणस्थान के प्रथम भाग में बन्ध-योग मानी जाती हैं। आठवें तथा नववें गुणस्थान की स्थिति *अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। आठवें गुणस्थान की स्थिति के सात भाग* होते हैं। इन में से प्रथम भाग में, दूसरे से लेकर छट्ठे तक पाँच भागों में, और सातवें भाग में जितनी जितनी कर्म-प्रकृतियों का बन्ध होता है; वह नववीं तथा दसवीं गाथा के अर्थ में दिखाया गया है। इस प्रकार नववें गुणस्थान की स्थिति के पाँच भाग होते हैं। उनमें से प्रत्येक भाग में जो बन्ध-योग्य कर्म-प्रकृतियाँ हैं, उनका कथन ग्यारहवीं गाथा के अर्थ में कर दिया गया है ॥ ९ ॥ १० ११ ॥

चउदंसणुच्चजसनाण विग्घदसगंति सोल सुच्छेओ।
तिसु सायबंध छेओ सजोगिबंधंतु णंतो अ ॥ १२ ॥
(चतुर्दर्शनोच्चयशोज्ञानविघ्नदशकमिति षोडशोच्छेदः।
त्रिषु सातबन्धश्छेदः सयोगिनि बन्धस्यान्तोऽनन्तश्च॥१२॥)

अर्थ—दसवें गुणस्थान की बन्ध-योग्य १७ कर्म-प्रकृतियों में से ४-दर्शनावरण, उच्चगोत्र, यशःकीर्त्तिनामकर्म,

५-ज्ञानावरण और ५-अन्तराय इन १६-कर्म-प्रकृतियों का वन्ध-विच्छेद दसवें गुणस्थान के अन्त में होता है। इससे केवल सातवेदनीय कर्म-प्रकृति शेष रहती है। उस का वन्ध ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में होता है। तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम-समय में सातवेदनीय का वन्ध भी रुक जाता है इससे चौदहवें गुणस्थान में किसी भी प्रकृतिका वन्ध नहीं होता। अर्थात्—अवन्धक अवस्था प्राप्त होती है। इस प्रकार जिन जिन कर्म-प्रकृतियों के वन्ध का जहाँ जहाँ अन्त (विच्छेद) होता है और जहाँ जहाँ अन्त नहीं होता; उस का वर्णन हो चुका ॥१२॥

भावार्थ—४-दर्शनावरण आदि जो १६कर्म-प्रकृतियाँ ऊपर दिखाई गई हैं उनका वन्ध कषाय के उदयसे होता है और दसवें गुणस्थान से आगे कषाय का उदय नहीं होता; इसी से उक्त सोलह कर्म-प्रकृतियों का वन्ध भी दसवें गुणस्थान तक ही होता है। यह सामान्य नियम है कि कषाय का उदय कषाय के वन्ध का कारण होता है और दसवें गुणस्थान में लोभका उदय रहता है। इस लिये उस गुणस्थान में उक्त नियम के अनुसार लोभ का वन्ध होना चाहिये। ऐसी शङ्का यद्यपि हो सकती है; तथापि इस का समाधान यह है कि स्थूल-लोभ के उदय से लोभ का वन्ध होता है; सूक्ष्म-लोभ के उदय से नहीं। दसवें गुणस्थान में तो सूक्ष्म-लोभ का ही उदय रहता है। इसलिये उस गुणस्थान में लोभ का वन्ध माना नहीं जाता।

ग्यारहवें आदि तीन गुणस्थान में सात-वेदनीय का वन्ध होता है,सो भी योग के निमित्त से;क्योंकि उन गुणस्थानों में

कषायोदय का सर्वथा अभाव ही होता है। अतएव योग-मात्र से होनेवाला वह सात-वेदनीय का बन्ध, मात्र दो समयों की स्थिति का ही होता है।

चौदहवें गुणस्थान में योग का अभाव हो जाता है, इसी से सात-वेदनीय का बन्ध भी उस गुणस्थान में नहीं होता, और अवन्धकत्व-अवस्था प्राप्त होती है। जिन कर्म-प्रकृतियों का बन्ध जितने कारणों से होता है, उतने कारणों के रहने तक ही, उन कर्म-प्रकृतियों का बन्ध होता रहता है। और उतने कारणों में से किसी एक कारण के कम हो जाने से भी, उन कर्म-प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता। शेष सब कर्म-प्रकृतियों का बन्ध होता है। जैसे:—नरक-त्रिक-आदि पूर्वोक्त १६ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, इन चार कारणों से होता है। ये चारों कारण पहले गुणस्थान के चरमसमयपर्यन्त रहते हैं इस लिये उक्त १६ कर्म-प्रकृतियों का बन्ध भी उस समयपर्यन्त हो सकता है, परन्तु पहले गुणस्थान से आगे मिथ्यात्व-आदि उक्त चार कारणों में से मिथ्यात्व नहीं रहता, इस से, नरकत्रिक-आदि पूर्वोक्त १६ कर्मप्रकृतियों का बन्ध भी पहले गुणस्थान से आगे नहीं होता; और सब कर्म-प्रकृतियों का बन्ध यथासम्भव होता ही है। इस प्रकार दूसरी २ कर्म-प्रकृतियों के बन्ध का अन्त (विच्छेद) और अन्ताभाव (विच्छेदाभाव) ये दोनों, बन्ध के हेतु के विच्छेद और अविच्छेद पर निर्भर हैं ॥१२॥

———:o:———

बन्धाधिकार समाप्त ॥

बन्ध-यन्त्र

	गुणस्थानों के नाम.		मूल-प्रकृतियां.	उत्तर-प्रकृतियां.	ज्ञानावरणीय.	दर्शनावरणीय.	वेदनीय.	मोहनीय.	आयुकर्म.	नामकर्म.	गोत्रकर्म.	अन्तरायकर्म.
०	ओघ से.		८	१२०	५	९	२	२६	४	६७	२	५
१	मिथ्यात्व में.		८	११७	५	९	२	२६	४	६४	२	५
२	सास्वादन में.		८	१०१	५	९	२	२४	३	५१	२	५
३	मिश्र में.		७	७४	५	६	२	१९	०	३६	१	५
४	अविरत में.		८	७७	५	६	२	१९	२	३७	१	५
५	देशविरत में.		८	६७	५	६	२	१५	१	३२	१	५
६	प्रमत्त में.		८	६३	५	६	२	११	१	३२	१	५
७	अप्रमत्त में.		८ / ७	५९ / ५८	५	६	१	९	१ / ०	३१	१	५
८	अपूर्वकरणगुणस्थान में	१	७	५८	५	६	१	९	०	३१	१	५
		२	७	५६	५	४	१	९	०	३१	१	५
		३	७	५६	५	४	१	९	०	३१	१	५
		४	७	५६	५	४	१	९	०	३१	१	५
		५	७	५६	५	४	१	९	०	३१	१	५
		६	७	५६	५	४	१	९	०	३१	१	५
		७	७	२६	५	४	१	९	०	१	१	५
९	अनिवृत्ति गु० में	१	७	२२	५	४	१	५	०	१	१	५
		२	७	२१	५	४	१	४	०	१	१	५
		३	७	२०	५	४	१	३	०	१	१	५
		४	७	१९	५	४	१	२	०	१	१	५
		५	७	१८	५	४	१	१	०	१	१	५
१०	सूक्ष्मसम्पराय में.		६	१७	५	४	१	०	०	१	१	५
११	उपशान्तमोह में.		१	१	०	०	१	०	०	०	०	०
१२	क्षीणमोह में.		१	१	०	०	१	०	०	०	०	०
१३	सयोगि गु० में.		१	१	०	०	१	०	०	०	०	०
१४	अयोगि गु० मे.		०	०	०	०	०	०	०	०	०	०

ओ३म

उदयाधिकार

पहले उदय और उदीरणा का लक्षण कहते हैं, अनन्तर प्रत्येकगुणस्थान में जितनी २ कर्म-प्रकृतियों का उदय तथा उदीरणा होती है उनको बारह गाथाओं से दिखाते हैं

उदओ विवाग-वेयण मुदीरण मपत्ति इह दुवीससयं ।
सतर-सयं मिच्छे मीस-सम्म-आहार-जिणणुदया ॥ १३ ॥
उदयो विपाक-वेदन मुदीरण मप्राप्त इह द्वाविंशति-शतम् ।
सप्तदश-शतं मिथ्यात्वे मिश्र-सम्यगाहारक-जिनानुदयात् १३

अर्थ-विपाक का समय प्राप्त होने पर ही कर्म के विपाक (फल)को भोगना उदय कहाता है।और विपाक का समय प्राप्त न होने पर कर्म फल को भोगना उसे 'उदीरणा' कहते हैं। उदय-योग्य तथा उदीरणा-योग्य कर्म-प्रकृतियाँ१२२ हैं। उन में से ११७ कर्म-प्रकृतियों का उदय पहले गुणस्थान में हो सकता है क्योंकि १२२ में से मिश्रमोहनीय, सम्यक्त्व-मोहनीय,आहारक-शरीर,आहारक-अङ्गोपाङ्ग और तीर्थङ्करनामकर्म इन पाँच कर्म-प्रकृतियों का उदय पहले गुणस्थान में नहीं होता ॥ १६ ॥

भावार्थ-आत्मा के साथ लगे हुये कर्म-दलिक, नियत-समय पर अपने शुभाशुभ-फलों का जो अनुभव कराते हैं वह "उदय" कहाता है । कर्म-दलिकों को प्रयत्न-विशेष से खींचकर नियत-समय के पहले ही उन के शुभा-

शुभ-फलों को भोगना, "उदीरणा" कहाती है। कर्म के शुभाशुभ-फल के भोगने का ही नाम उदय तथा उदीरणा है, किन्तु दोनों में भेद इतना ही है कि एक में प्रयत्न के विना ही स्वाभाविक क्रम से फल का भोग होता है और दूसरे में प्रयत्न के करने पर ही फलका भोग होता है। कर्म-विपाक के वेदन को उदय तथा उदीरणा कहने का अभिप्राय यह है कि, प्रदेशोदय, उदयाधिकार में इष्ट नहीं है।

तीसरी गाथा के अर्थ में बन्ध-योग्य १२० कर्म-प्रकृतियाँ कही हुई हैं, वे तथा मिश्र-मोहनीय और सम्यक्त्व-मोहनीय ये दो, कुल १२२ कर्म-प्रकृतियाँ उदययोग्य तथा उदीरणा-योग्य मानी जाती हैं।

बन्ध केवल मिथ्यात्व-मोहनीय का ही होता है, मिश्र-मोहनीय तथा सम्यक्त्व-मोहनीय का नहीं। परन्तु वही मिथ्यात्व; जब परिणाम-विशेष से अर्द्धशुद्ध तथा शुद्ध हो जाता है तब मिश्र-मोहनीय तथा सम्यक्त्व-मोहनीय के रूप में उदय में आता है। इसीसे उदय में ये दोनों कर्म-प्रकृतियाँ बन्ध की अपेक्षा अधिक मानी जाती हैं।

मिश्र-मोहनीय का उदय तीसरे गुणस्थान में ही होता है। सम्यक्त्व-मोहनीय का उदय चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक हो सकता है। आहारक-शरीर तथा आहारक-अङ्गोपाङ्ग नामकर्म का उदय छट्ठे या सातवें गुणस्थान में ही हो सकता है। तीर्थङ्कर-नामकर्म का उदय तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में ही हो सकता है। इसीसे मिश्र-मोहनीय-आदि उक्त पाँच कर्म-प्रकृतियों को छोड़ शेष ११७ कर्म-प्रकृतियों का उदय पहले गुणस्थान में यथासम्भव माना जाता है १३

सुहुम-तिगायव-मिच्छं मिच्छंतं सासणे-इगार-सयं ।
निरयाणुपुव्वि-णुदया अण-थावर-इग-विगल-अंतो ॥ १४ ॥
सूक्ष्म-त्रिकातप-मिथ्यं मिथ्यान्तं सास्वादन एकादश-शतम् ।
निरयानुपूर्व्यनुदया दनस्थावरैकविकलान्तः॥१४॥
मीसे सयमणुपुव्वी-णुदयामीसोदएण मीसंतो ।
चउसयमजए सम्माणुपुव्वि-खेवा विय-कसाया ॥ १५ ॥
मिश्रे शत मानुपूर्व्यनुदयान्मिश्रोदयेन मिश्रान्तः ।
चतुःशतमयते सम्यगानुपूर्वीक्षेपाद्द्वितीयकषायाः ॥ १५ ॥
मणुतिरिणु पुव्विविउवट्ठ दुहग अणाइज्जदुग सतरछेओ ।
सगसीइ देसि, तिरिगइ आउ निउज्जोय तिकसाया ॥१६॥
मनुज-तिर्यगानुपूर्वी-वैक्रियाष्टकंदुर्भगमनादेयद्विकंसप्तदशच्छेद
सप्ताशितिर्देशे तिर्यग्गत्यायुर्नीचोद्योत-तृतीय-कषायाः१६
अट्ठच्छेओ इगसी पमत्ति आहार- जुगल-पक्खेवा ।
थीणतिगा-हारग-दुग छेओ छस्सयरि अपमत्ते ॥१७॥
अष्टच्छेद एकाशितिः प्रमत्ते आहारक-युगलप्रक्षेपात् ।
स्त्यानर्द्धित्रिकाहारक-द्विकच्छेदः षट्-सप्तति रप्रमत्ते ॥१७॥

अर्थ—दूसरे गुणस्थान में १११ कर्म-प्रकृतियों का उदय होता है; क्योंकि जिन ११७ कर्म-प्रकृतियों का उदय पहले गुणस्थान में होता है उनमें से सूक्ष्मत्रिक (सूक्ष्मनामकर्म, अपर्याप्तनामकर्म और साधारणनामकर्म) आतपनामकर्म मिथ्यात्वमोहनीय और नरकानुपूर्वी—इन ६ कर्म-प्रकृतियों का उदय दूसरे गुणस्थान में वर्तमान-जीवों को नहीं होता। अनन्तानुबन्धी चार कषाय, स्थावरनामकर्म, एकेन्द्रिय-जातिनामकर्म, विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय) जातिनामकर्म ॥१४॥ और शेष आनुपूर्वी तीन, अर्थात् तिर्यञ्चानुपूर्वी, मनुजानुपूर्वी और देवानुपूर्वी इन १२- कर्मप्रकृतियों का उदय

तीसरे गुणस्थानके समय नहीं होता; परन्तु मिश्र-मोहनीयकर्म का उदय होता है। इस प्रकार दूसरे गुणस्थान की उदय-योग्य १११-कर्म-प्रकृतियों में से अनन्तानुबन्धी चार कषाय-आदि उक्त १२ कर्म-प्रकृतियों के घट जाने पर, शेष जो ९९ कर्म-प्रकृतियाँ रहती हैं उनमें मिश्र-मोहनीय-कर्म मिलाकर कुल १०० कर्म-प्रकृतियों का उदय तीसरे गुणस्थानस्थित जीवों को हो सकता है।

चौथे गुणस्थान में वर्तमान,जीवों को १०४ कर्म-प्रकृतियों का उदय हो सकता है क्योंकि जिन १०० कर्म-प्रकृतियों का उदय तीसरे गुणस्थान में होता है उनमें से केवल मिश्र-मोहनीय-कर्म का ही उदय चौथे गुणस्थान में नहीं होता, शेष ९९ कर्म-प्रकृतियों का उदय तो होता ही है। तथा सम्यक्त्वमोहनीयकर्म के उदय का और चारों आनुपूर्वियों, के उदय का भी सम्भव है। अप्रत्याख्यानावरण चार कषायें ॥ १५ ॥ मनुष्य-आनुपूर्वी (५) तिर्यञ्च-आनुपूर्वी (६)वैक्रिय-अष्टक (देवगति, देव-आनुपूर्वी, नरकगति, नरक-आनुपूर्वी, देव-आयु, नरक-आयु, वैक्रियशरीर और वैक्रिय-अङ्गोपाङ्ग (१४) दुर्भगनामकर्म(१५) और अनादेयद्विक (अनादेयनामकर्म तथा अयशःकीर्त्तिनामकर्म) (१७) इन सत्रह कर्म-प्रकृतियों को चौथे गुणस्थान की उदययोग्य (१०४)कर्म प्रकृतियों में से घटा देने पर, शेष (८७) कर्म-प्रकृतियाँ रहती हैं। उन्हीं (८७)-कर्म-प्रकृतियों का उदय पाँचवें गुणस्थान में होता है।

उक्त ८७-कर्म-प्रकृतियों में से तिर्यञ्चगति (१)तिर्यञ्च-आयु (२) नीचगोत्र (३) उद्योतनामकर्म (४) और प्रत्याख्याना-वरण चार कषाय (८) ॥१६॥

उक्त आठ कर्म-प्रकृतियों को घटाने से,शेष(७६)कर्म-प्रकृतियाँ रहती हैं। उनमें आहारकशरीरनामकर्म तथा आहारक-अङ्गोपाङ्गनामकर्म इन दो प्रकृतियों के मिलाने से कुल हुईं (८१)कर्म-प्रकृतियाँ। छट्ठे गुणस्थान में इन्हीं (८१)कर्म-प्रकृतियों का उदय हो सकता है।

सातवें गुणस्थान में ७६ कर्म-प्रकृतियों का उदय होता है क्योंकि पूर्वोक्त (८१)-कर्म-प्रकृतियों में से स्त्यानर्द्धित्रिक और आहारकद्विक इन (५) कर्म-प्रकृतियों का उदय छट्ठे गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही हो सकता है; आगे के गुणस्थानों में नहीं ॥१७॥

भावार्थ—सूक्ष्मनामकर्म-का उदय, सूक्ष्म-जीवों को ही अपर्याप्त-नाम कर्म का उदय, अपर्याप्त-जीवों को ही और साधारण-नाम-कर्म का उदय अनन्त-कायिक-जीवों को ही होता है। परन्तु सूक्ष्म, अपर्याप्त और अनन्त-कायिक जीवों को न तो सास्वादन-सम्यक्त्व प्राप्त होता है और न कोई सास्वादन-प्राप्त-जीव, सूक्ष्म, अपर्याप्त या अनन्तकायिक रूपसे पैदा होता है। तथा आतप-नाम-कर्म का उदय बादर-पृथिवि-कायिक जीवको ही होता है सो भी शरीर-पर्याप्ति के पूर्ण हो जाने के बाद ही; पहले नहीं। परन्तु सासादन-सम्यक्त्व को पाकर जो जीव बादर-पृथ्वी-काय में जन्म ग्रहण करते हैं वे शरीर-पर्याप्ति को पूरा करने के पहले ही-अर्थात् आतपनामकर्म के उदय का अवसर आने के पहले ही-पूर्वप्राप्तसास्वादन-सम्यक्त्व का वमन कर देते हैं अर्थात् बादर-पृथ्वी-कायिक-जीवों को, जब सास्वादन-सम्यक्त्व का सम्भव होता है

तब आतपनामकर्म के उदय का सम्भव नहीं और जिस समय आतपनामकर्म्म का सम्भव होता है उस समय उन को सास्वादन-सम्यक्त्व का सम्भव नहीं है। तथा मिथ्यात्व का उदय पहले गुणस्थान में ही होता है किन्तु सास्वादन-सम्यक्त्व पहले गुणस्थान के समय, कदापि नहीं होता। इससे मिथ्यात्व के उदय का और सम्यक्त्व का किसी भी जीव में एक समय में होना असंभव है। इसी प्रकार नरक-आनुपूर्वी का उदय, वक्रगति से नरक में जानेवाले जीवों को होता है। परन्तु उन जीवों को उस अवस्था में सास्वादन-सम्यक्त्व नहीं होता। इससे नरक-आनुपूर्वी का उदय और सास्वादन-सम्यक्त्व इन दोनों का किसी भी जीव में एक साथ होना असम्भव है। अतएव सासादन-सम्यग्दृष्टिनामक दूसरे गुणस्थान में सूक्ष्म-नामकर्म से लेकर नरक- आनुपूर्वीपर्यन्त ६-कर्म-प्रकृतियों के उदय का निषेध किया है, और पहले गुणस्थान की उदययोग्य कर्म-प्रकृतियों में से उक्त ६-प्रकृतियों को छोड़कर, शेष कर्म-प्रकृतियों का उदय दूसरे गुणस्थान के समय माना गया है। अनन्तानुबन्धी-कषाय का उदय पहले और दूसरे गुणस्थान में ही होता है, आगे के गुणस्थानों में नहीं। तथा स्थावर-नामकर्म, एकेन्द्रियजातिनामकर्म, द्वीन्द्रियजातिनामकर्म, त्रीन्द्रियजातिनामकर्म, और चतुरिन्द्रियजाति-नामकर्म के उदयवाले जीवों में, तीसरे गुणस्थान से लेकर आगे का कोई भी गुणस्थान नहीं होता। क्योंकि स्थावर-नामकर्म का और एकेन्द्रियजाति-नामकर्म का उदय एकेन्द्रिय जीवों को होता है। तथा द्वीन्द्रियजाति-नामकर्म का उदय द्वीन्द्रियों को; त्रीन्द्रियजाति-नामकर्म का उदय त्रीन्द्रियों को और चतुरिन्द्रियजाति-नामकर्म का उदय

चतुरिन्द्रिय-पर्यन्त के जीवों में, पहला या दूसरा दो ही गुणस्थान हो सकते हैं। आनुपूर्वी का उदय जीवों को उसी समय में होता है जिस समय कि वे दूसरे स्थान में जन्म ग्रहण करने के लिये वक्रगति से जाते हैं। परन्तु तीसरे गुणस्थान में वर्तमान कोई जीव मरता नहीं है; इससे आनुपूर्वी-नाम-कर्म के उदयवाले जीवों में तीसरे गुणस्थान की सम्भावना भी नहीं की जा सकती। अतएव दूसरे गुणस्थान में जिन १११-कर्म-प्रकृतियों का उदय माना जाता है उनमें से अनन्तानु-बन्धि-कषाय-आदि पूर्वोक्त १२-कर्म-प्रकृतियों को छोड़ देने से ९९-कर्म-प्रकृतियाँ उदययोग्य रहती हैं। मिश्र-मोहनीयकर्म का उदय भी तीसरे गुणस्थान में अवश्य ही होता है इसीलिये, उक्त ९९ और १ मिश्रमोहनीय, कुल १००-कर्म-प्रकृतियों का उदय उस गुणस्थान में माना जाता है। तीसरे गुणस्थान में जिन १००-कर्म-प्रकृतियों का उदय हो सकता है उन में से मिश्रमोहनीय के सिवा, शेष ९९ ही कर्म-प्रकृतियों का उदय चतुर्थगुणस्थानवर्त्ती जीवों को हो सकता है। तथा चतुर्थगुणस्थान के समय सम्यक्त्व-मोहनीयकर्म के उदय का और चारों आनुपूर्वी-नामकर्मों के उदय का सम्भव है; इसीलिये पूर्वोक्त ९९ और सम्यक्त्व-मोहनीय-आदि (५), कुल १०४ कर्म-प्रकृतियों का उदय, उक्त गुणस्थान में वर्तमानजीवों को माना जाता है।

जब तक अप्रत्याख्यानावरण-कषाय-चतुष्क का उदय रहता है तब तक जीवों को पञ्चम गुणस्थान की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिये अप्रत्याख्यानावरण-कषाय-चतुष्क का उदय, पहले से चौथे तक चार गुणस्थानों में ही समझना

चाहिये; पाँचवें आदि गुणस्थानों में नहीं। तथा पाँचवें से लेकर आगे के गुणस्थान, मनुष्यों और तिर्यञ्चों में यथासम्भव हो सकते हैं; देवों तथा नारकों में नहीं। मनुष्य और तिर्यञ्च भी आठ वर्ष की उम्र होने के बाद ही, पञ्चम-आदि गुणस्थानों को प्राप्त कर सकते हैं; पहले नहीं। परन्तु आनुपूर्वी का उदय वक्रगति के समय ही होता है इसलिये, किसी भी आनुपुर्वी के उदय के समय जीवों में पञ्चम-आदि गुणस्थान असम्भव हैं, नरक-गति तथा नरक-आयु का उदय नारकों को ही होता है; देवगति तथा देवआयु का उदय देवों में ही पाया जाता है; और वैक्रिय-शरीर तथा वैक्रिय-अङ्गोपाङ्ग-नामकर्म का उदय देव तथा नारक दोनों में होता है। परन्तु कहा जा चुका है कि देवों और नारकों में पञ्चम-आदि-गुणस्थान नहीं होते। इस प्रकार दुर्भग-नाम-कर्म, अनादेय-नामकर्म और अयशःकीर्त्तिनामकर्म, ये तीनों प्रकृतियाँ, पहले चार गुणस्थानों में ही उदय को पा सकती हैं; क्योंकि पञ्चम-आदि गुणस्थानों के प्राप्त होने पर, जीवों के परिणाम इतने शुद्ध हो जाते हैं कि जिससे उस समय, उन तीन प्रकृतियों का उदय हो ही नहीं सकता। अतएव चौथे गुणस्थान में उदययोग्य जो १०४ कर्म-प्रकृतियाँ कही हुई हैं उनमें से अप्रत्याख्यानावरण-कषाय-चतुष्क आदि पूर्वोक्त १७ कर्म-प्रकृतियों को घटा कर, शेष ८७ कर्म-प्रकृतियों का उदय पाँचवें गुणस्थान में माना जाता है। पञ्चम-गुण-स्थान-वर्ती मनुष्य और तिर्यञ्च दोनों ही, जिनको कि वैक्रिय-लब्धि प्राप्त हुई है, वैक्रियलब्धि के बलसे वैक्रियशरीर को तथा वैक्रिय-अङ्गोपाङ्ग को बना सकते हैं। इसी तरह छुट्ठे गुणस्थान में वर्तमान वैक्रियलब्धि-सम्पन्न मुनि भी वैक्रिय-शरीर तथा वैक्रिय-अङ्गोपाङ्ग को बना सकते हैं। उस समय

उन मनुष्यों को तथा तिर्यञ्चों को, वैक्रियशरीरनाम-कर्म का तथा वैक्रिय-अङ्गोपाङ्ग-नामकर्म का उदय अवश्य रहता है इसलिये, यद्यपि यह शङ्का हो सकती है कि पाँचवें तथा छट्ठे गुणस्थानकी उदय-योग्य प्रकृतियों में वैक्रिय-शरीर-नाम-कर्म तथा वैक्रिय-अङ्गोपाङ्ग-नामकर्म इन दो प्रकृतियों की गणना क्यों नहीं की जाती है ? तथापि इस का समाधान इतना ही है कि, जिनको जन्मपर्यन्त वैक्रिय-शरीर-नामकर्म का तथा वैक्रिय-अङ्गोपाङ्ग-नामकर्म का उदय रहता है उनकी (देव तथा नारकों की) अपेक्षा से ही उक्त दो प्रकृतियों के उदयका विचार इस जगह किया गया है। मनुष्यों में और तिर्यञ्चों में तो कुछ समय के लिये ही उक्त दो प्रकृतियों का उदय हो सकता है, सो भी सब मनुष्यों और तिर्यञ्चों में नहीं। इसी से मनुष्यों और तिर्यञ्चों की अपेक्षा से पाँचवें तथा छट्ठे गुणस्थान में, उक्त दो कर्म-प्रकृतियों के उदय का सम्भव होने पर भी, उस की विवक्षा नहीं की है।

जिन ८७ कर्म-प्रकृतियों का उदय पाँचवें गुणस्थान में माना जाता है उन में से तिर्यञ्च-गति, तिर्यञ्च-आयु, नीच-गोत्र, उद्योत-नामकर्म और प्रत्याख्यानावरण-कषाय-चतुष्क इन ८ कर्म-प्रकृतियों को छोड़कर, शेष ७९—कर्म-प्रकृतियों का उदय, छट्ठे गुणस्थान में हो सकता है। तिर्यञ्च-गति-आदि उक्त आठ कर्म—प्रकृतियों का उदय, पाँचवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही हो सकता है, आगे नहीं। इस का कारण यह है कि, तिर्यञ्च-गति, तिर्यञ्च-आयु और उद्योत-नामकर्म इन तीन प्रकृतियों का उदय तो तिर्यञ्चों को ही होता है परन्तु तिर्यञ्चों में पहले पाँच गुणस्थान ही हो सकते हैं, आगे के गुणस्थान नहीं। नीच गोत्र-का उदय

भी मनुष्यों को चार गुणस्थान तक ही हो सकता है। पञ्चम-आदि-गुणस्थान प्राप्त होने पर, मनुष्यों में ऐसे गुण प्रकट होते हैं कि जिनसे उन में नीच-गोत्र का उदय हो ही नहीं सकता और उच्च-गोत्र का उदय अवश्य हो जाता है। परन्तु तिर्यञ्चों को तो अपने योग्य सब गुणस्थानों में— अर्थात् पाँचों गुणस्थानों में स्वभाव से ही नीचगोत्र का उदय रहता है; उच्च-गोत्र का उदय होता ही नहीं। तथा प्रत्याख्यानावरण चार कषायों का उदय जब तक रहता है तब तक छट्ठे गुणस्थान से लेकर आगे के किसी भी गुणस्थान की प्राप्ति नहीं होती; और छट्ठे आदि गुणस्थानों के प्राप्त होने के बाद भी प्रत्याख्यानावरणकषायों का उदय हो नहीं सकता। इस प्रकार तिर्यञ्च-गति-आदि उक्त आठ कर्म-प्रकृतियों के बिना जिन ७९-कर्म-प्रकृतियों का उदय छट्ठे गुणस्थान में होता है उन में आहारक-शरीर-नामकर्म तथा आहारक-अङ्गोपाङ्गनामकर्म, ये दो प्रकृतियाँ और भी मिलानी चाहिये जिससे छट्ठे गुणस्थान में उदय-योग्य कर्म-प्रकृतियाँ ८१ होती हैं। छट्ठे गुणस्थान में आहारक-शरीर-नामकर्म का तथा आहारक-अङ्गोपाङ्ग-नामकर्म का उदय उस समय पाया जाता है जिस समय कि कोई चतुर्दश-पूर्वधर-मुनि, लब्धि के द्वारा आहारक-शरीर की रचना कर उसे धारण करते हैं। जिस समय कोई वैक्रिय-लब्धिधारी मुनि, लब्धि से वैक्रिय-शरीर को बनाकर उसे धारण करता है उस समय उसको उद्योत-नामकर्म का उदय होता है। क्योंकि शास्त्र में इस आशय का कथन पाया जाता है कि यति को वैक्रिय-शरीर धारण करते समय और देव को उत्तर-वैक्रिय-शरीर धारण करते समय उद्योत-नामकर्म का उदय होता है। अब इस जगह यह शङ्का हो सकती है कि जब

वैक्रिय-शरीरस्थिति की अपेक्षा से छट्ठे गुणस्थान में भी उद्योत नामकर्म का उदय पाया जाता है तब पाँचवें गुणस्थान तक ही उसका उदय क्यों माना जाता है? परन्तु इसका समाधान सिर्फ इतना ही है कि जन्म के स्वभाव से उद्योत-नामकर्म का जो उदय होता है वही इस जगह विवक्षित है; लब्धि के निमित्त से होनेवाला उद्योत-नामकर्म का उदय विवक्षित नहीं है। छट्ठे गुणस्थान में उदययोग्य जो ८१ कर्म-प्रकृतियाँ कही हुई हैं उनमें से स्त्यानर्द्धि-त्रिक और आहारक-द्विक इन पाँच कर्म-प्रकृतियों का उदय सातवें गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानों में नहीं होता; क्योंकि स्त्यानर्द्धित्रिक का उदय प्रमादरूप है, परन्तु छट्ठे से आगे किसी भी गुणस्थान में प्रमाद नहीं होता। इस प्रकार आहारक-शरीर-नामकर्म का तथा आहारक-अङ्गोपाङ्ग-नामकर्म का उदय, आहारक-शरीर रचनेवाले मुनि को ही होता है। परन्तु वह मुनि लब्धि का प्रयोग करनेवाला होने से अवश्य ही प्रमादी होता है। जो लब्धि का प्रयोग करता है वह उत्सुक हो ही जाता है। उत्सुकता हुई कि स्थिरता या एकाग्रता का भंग हुआ। एकाग्रता के भंग को ही प्रमाद कहते हैं इसलिये, आहारक-द्विक का उदय भी छठे गुणस्थान तक ही माना जाता है। यद्यपि आहारकशरीर बना लेने के बाद कोई मुनि विशुद्ध अध्यवसाय से फिर भी सातवें गुणस्थान को पा सकते हैं, तथापि ऐसा बहुत कम होता है इस लिये इसकी विवक्षा आचार्यों ने नहीं की है। इसी से सातवें गुणस्थान में आहारक-द्विक के उदय को गिना नहीं है ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

संमत्तंतिमसंघयण तियगच्छेओ बिसत्तरि अपुव्वे।
हासाइछक्कअंतो छसट्ठि अनियट्टिवेयतिगं ॥ १८ ॥

सम्यक्त्वान्तिमसंहननत्रिकक्रच्छेदो द्वासप्ततिरपूर्वे ।
हास्यादिषट्कान्तः षट्षष्टिरनिवृत्तौ वेदत्रिकम् ॥ १८ ॥
संजलणतिगं छच्छेत्रो सट्ठि सुहुमंमि तुरियलोभंतो ।
उवसंत गुणे गुणसट्ठि रिसहनाराय दुगअंतो ॥ १९ ॥
संज्वलनत्रिकं षट्छेदः षष्टिः सूक्ष्मे तुरियलोभान्तः ।
उपशान्तगुण एकोनषष्टि ऋषभनाराचद्विकान्तः ॥ १९ ॥

—सम्यक्त्व-मोहनीय और अन्त के तीन संहनन इन ४ कर्म-प्रकृतियों का उदय-विच्छेद सातवें गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाता है। इससे सातवें गुणस्थान की उदय-योग्य ७६ कर्म-प्रकृतियों में से सम्यक्त्वमोहनीय-आदि उक्त चार कर्म-प्रकृतियों को घटा देने पर, शेष ७२ कर्म-प्रकृतियों का उदय आठवें गुणस्थान में रहता है। हास्य, रति, अरति, भय, शोक और जुगप्सा इन ६ कर्म-प्रकृतियों का उदय आठवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक होता है, आगे नहीं। इससे आठवें गुणस्थान की उदय-योग्य ७२ कर्म-प्रकृतियों में से हास्य-आदि ६ कर्म-प्रकृतियों के घटा देने से शेष ६६कर्म-प्रकृतियों का ही उदय नववें गुणस्थान में रह जाता है। स्त्रीवेद, पुरुषवेद नपुंसकवेद, १८ संज्वलन क्रोध, संज्वलन-मान और संज्वलन माया इन ६ कर्म-प्रकृतियों का उदय, नववें गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही होता है। इससे नववें गुणस्थान की उदय-योग्य ६६ कर्म-प्रकृतियों में से स्त्रीवेद आदि उक्त ६ कर्म-प्रकृतियों को छोड़कर शेष ६० कर्म-प्रकृतियों का उदय दसवें गुणस्थान में होता है। संज्वलन-लोभ का उदय-विच्छेद दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय में होता है। इससे दसवें गुणस्थान में जिन ६० कर्म-प्रकृतियों का उदय होता है उन में से एक संज्वलन-लोभ के विना शेष ५९ कर्म-प्रकृतियों का

उदय ग्यारहवें गुणस्थान में हो सकता है। इन ५९ कर्म-प्रकृतियों में से ऋषभनाराचसंहनन और नाराचसंहनन इन दो कर्म-प्रकृतियों का उदय, ग्यारहवें गुणस्थान के अन्तिम-समय-पर्यन्त ही होता है॥ १९ ॥

भावार्थ —जो मुनि, सम्यकत्वमोहनीय का उपशम या क्षय करता है वही सातवें गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों को पा सकता है, दूसरा नहीं। इसीसे ऊपर कहा गया है कि सातवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक में सम्यकत्व-मोहनीय का उदय-विच्छेद हो जाता है। इस प्रकार अर्ध-नाराच, कीलिका और सेवार्त इन तीन अन्तिम संहननों का उदय-विच्छेद भी सातवें गुणस्थान के अन्त तक हो जाता है—अर्थात् अन्तिम तीन संहननवाले जीव, सातवें गुणस्थान से आगे नहीं बढ़ सकते। इसका कारण यह है कि जो श्रेणि कर सकते हैं वे ही आठवें आदि गुणस्थानों को प्राप्त कर सकते हैं परन्तु श्रेणि को प्रथम तीन संहननवाले ही कर सकते हैं, अन्तिम तीन संहननवाले नहीं। इसी से उक्त सम्यकत्व-मोहनीय आदि ४ कर्म-प्रकृतियों को सातवें गुणस्थान की ७६ कर्म-प्रकृतियों में से घटाकर शेष ७२ कर्म-प्रकृतियों का उदय आठवें गुणस्थान में माना जाता है।

नववें गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानों में अध्यवसाय इतने विशुद्ध हो जाते हैं कि जिस से गुणस्थानों में वर्तमान जीवों को हास्य, रति आदि उपर्युक्त ६ कर्म-प्रकृतियों का उदय होने नहीं पाता। अतएव कहा गया है कि आठवें गुणस्थान की उदय-योग्य ७२ कर्म-प्रकृतियों में से हास्य-आदि ६ प्रकृतियों को छोड़

कर शेष ६६ कर्म-प्रकृतियों का उदय नववें गुणस्थान में हो सकता है।

नववें गुणस्थान के प्रारम्भ में ६६ कर्म-प्रकृतियों का उदय होता है। परन्तु अध्यवसायों की विशुद्धि बढ़ती ही जाती है; इससे तीन वेद और संज्वलन-त्रिक, कुल ६ कर्म-प्रकृतियों का उदय नववें गुणस्थान में ही क्रमशः रुक जाता है। अतएव दसवें गुणस्थान में उदय-योग्य प्रकृतियाँ ६० ही रहती हैं। नववें गुणस्थान में वेदत्रिक-आदि उक्त ६ कर्म-प्रकृतियों का उदय-विच्छेद इस प्रकार होता है-यदि श्रेणि का प्रारम्भ स्त्री करती है तो वह पहले स्त्रीवेद के, पीछे पुरुष-वेद के अनन्तर नपुंसक-वेद के उदय का विच्छेद करके क्रमशः संज्वलन-त्रिक के उदय को रोकती है। श्रेणिका प्रारम्भ करनेवाला यदि पुरुष होता है तो वह सब से पहले पुरुष-वेद के, पीछे स्त्रीवेद के अनन्तर नपुंसकवेद के उदय को रोक कर क्रमशः संज्वलन-त्रिक के उदय का विच्छेद करता है। और श्रेणि को करने-वाला यदि नपुंसक है तो सबसे पहले वह नपुंसक-वेद के उदय को रोकता है; इसके बाद स्त्रीवेद के उदय को तत्पश्चात् पुरुष-वेद के उदय को रोक कर क्रमशः संज्वलन-त्रिक के उदय को बन्द कर देता है।

दसवें गुणस्थान में ६० कर्म-प्रकृतियों का उदय हो सकता है। इनमें से संज्वलन-लोभ का उदय, दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही होता है। इसी से संज्वलन-लोभ को छोड़ कर शेष ५६ कर्म-प्रकृतियों का उदय ग्यारहवें गुणस्थान में माना जाता है॥ १८॥ १६॥

सगवन्न खीण-दुचरिमि निद्दुगंतो अ चरिमि पणवन्ना ।
नाणंतरायदंसण-चउछेओ सजोगि बायाला ॥२० ॥

सप्तपञ्चाशत् क्षीणद्विचरमे निद्राद्विकान्तश्च चरमे पञ्चपञ्चाशत् ।
ज्ञानान्तरायदर्शनचतुश्छेदः सयोगिनि द्विचत्वारिंशत् ॥ २० ॥

अर्थ—अतएव बारहवें गुणस्थान में ५७ कर्म-प्रकृतियों का उदय रहता है। ५७ कर्म-प्रकृतियों का उदय, बारहवें गुणस्थान के द्विचरम-समय-पर्यन्त—अर्थात् अन्तिम समय से पूर्व के समय-पर्यन्त पाया जाता है; क्योंकि निद्रा और प्रचला इन दो कर्म-प्रकृतियों का उदय, अन्तिम समय में नहीं होता। इससे पूर्वोक्त ५७ कर्म-प्रकृतियों में से निद्रा और प्रचला को छोड़कर शेष ५५ कर्म-प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में होता है। ज्ञानावरणकर्म की ५, अन्तरायकर्म की ५ और दर्शनावरणकर्म की ४—कुल १४ कर्म-प्रकृतियों का उदय, बारहवें गुणस्थान के अन्तिम-समय-पर्यन्त ही होता है; आगे नहीं। इससे बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय की उदय-योग्य ५५ कर्म-प्रकृतियों में से उक्त १४ कर्म-प्रकृतियों के घटा देने से ४१ कर्म-प्रकृतियाँ शेष रहती हैं। परन्तु तेरहवें गुणस्थान से लेकर तीर्थंकर-नामकर्म के उदय का भी सम्भव है। इसलिये पूर्वोक्त ४१, और तीर्थङ्कर-नामकर्म, कुल ४२ कर्म-प्रकृतियों का उदय तेरहवें गुणस्थान में हो सकता है ॥ २० ॥

भावार्थ—जिनको ऋषभनाराच-संहनन का या नाराच संहनन का उदय रहता है वे उपशम-श्रेणि को ही कर सकते हैं। उपशम-श्रेणि करनेवाले, ग्यारहवें गुणस्थान-पर्यन्त ही चढ़ सकते हैं; क्योंकि क्षपकश्रेणि किये विना बारहवें गुणस्थान-

की प्राप्ति नहीं हो सकती । क्षपक-श्रेणि को वेही कर सकते हैं जिनको कि वज्र-ऋषभनाराच-संहनन का उदय, होता है । इसीसे ग्यारहवें गुणस्थान की उदय-योग्य ५६ कर्म-प्रकृतियों में से ऋषभनाराच और नाराच दो संहननों को घटाकर शेष ५७ कर्म-प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान में माना जाता है । इन ५७ कर्म-प्रकृतियों में से भी निद्रा का तथा प्रचला का उदय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में नहीं होता । इस से उन दो कर्म-प्रकृतियों को छोड़कर शेष ५५ कर्म-प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में माना जाता है । ज्ञानावरण ५, अन्तराय ५ और दर्शनावरण ४, सब मिलाकर १४ कर्म-प्रकृतियों का उदय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय से आगे नहीं होता । इससे पूर्वोक्त ५५ कर्म-प्रकृतियों में से उक्त १४ कर्म-प्रकृतियों के निकल जाने से शेष ४१ कर्म-प्रकृतियाँ रहती हैं । परन्तु तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त करनेवालों में जो तीर्थंकर होनेवाले होते हैं उनको तीर्थंकरनामकर्म का उदय भी हो जाता है । अतएव पूर्वोक्त ४१ और तीर्थंकरनामकर्म, कुल ४२ कर्म-प्रकृतियाँ तेरहवें गुणस्थान में उदय को पा सकती हैं ॥ २० ॥

तित्थुदया उरलाथिरखगइदुगपरित्ततिगछसंठाणा ।
अगुरलहुवन्नचउ-निमिणतेयकम्माइसंघयणं ॥ २१ ॥

तीर्थोदयादौदारिकास्थिरखगतिद्विकप्रत्येकत्रिकषट्संस्थानानि
अगुरुलघुवर्णचतुष्कनिर्माणतेजःकर्मादिसंहननम् ॥२१ ॥

दूसरसूसरसायासाएगयरं च तीस-वुच्छेओ ।
बारस अजोगि सुभगाइज्जजसन्नयरवेयणियं ॥ २२ ॥

दुःस्वरसुस्वरसातासातैकतरं च त्रिंशद्व्युच्छेदः।

द्वादशायोगिनि सुभगादेययशोऽन्यतरवेदनीयम् ॥ २२ ॥

तसतिग पणिंदि मणुयाउ गइजिणुच्चंति चरम-समयंतो।

त्रसत्रिकपञ्चेन्द्रियमनुजायुर्गतिजिनोच्चमिति चरमसमयान्तः।

अर्थ—औदारिक-द्विक (औदारिक-शरीरनामकर्म तथा औदारिक-अङ्गोपाङ्गनामकर्म) २, अस्थिर-द्विक (अस्थिर-नामकर्म, अशुभनामकर्म)४, खगति-द्विक (शुभविहायोगति-नामकर्म और अशुभविहायोगतिनामकर्म) ६, प्रत्येक-त्रिक-(प्रत्येकनामकर्म, स्थिरनामकर्म और शुभनामकर्म) ९, सम-चतुरस्र,न्यग्रोधपरिमंडल, सादि, वामन,कुब्ज और हुण्ड-ये छः संस्थान १५, अगुरुलघुचतुष्क (अगुरुलघुनामकर्म, उप-घातनामकर्म, पराघातनामकर्म और उच्छ्वासनामकर्म)१९, वर्ण-चतुष्क (वर्णनामकर्म, गंधनामकर्म, रसनामकर्म और स्पर्शनामकर्म)२३,निर्माणनामकर्म २४, तैजसशरीरनामकर्म २५, कार्मणशरीर-नामकर्म २६, प्रथम-संहनन (वज्रऋषभनाराच-संहनन) २७ ॥ २१ ॥

दुःस्वरनामकर्म २८,सुस्वरनामकर्म२९ और सातवेदनीय तथा असातवेदनीय—इन दो में से कोई एक ३०—ये तीस प्रकृतियाँ तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम-समय तक ही उदय को पा सकती हैं, चौदहवें गुणस्थान में नहीं। अतएव पूर्वोक्त ४२ में से इन ३० कर्म-प्रकृतियों के घट जाने पर शेष १२ कर्म-प्रकृतियाँ चौदहवें गुणस्थान में रहती हैं। वे १२ कर्म-प्रकृतियाँ ये हैं—सुभगनामकर्म, आदेयनामकर्म, यशः कीर्तिनामकर्म, वेदनीयकर्म की दो प्रकृतियों में से कोई एक

त्रसत्रिक (त्रसनामकर्म, बादरनामकर्म, और

पर्याप्तनामकर्म), पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्म, मनुष्य-आयु, मनुष्यगति, तीर्थङ्करनामकर्म और उच्चगोत्र—इन १२ प्रकृतियों का उदय चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम–समय तक रहता है।

भावार्थ—चौदहवें गुणस्थान में किसी भी जीव को वेदनीयकर्म की दोनों प्रकृतियों का उदय नहीं होता। इस लिये जिस जीव को उन दो में से जिस प्रकृति का उदय, चौदहवें गुणस्थान में रहता है उस जीवको उस प्रकृति के सिवाय दूसरी प्रकृति का उदय-विच्छेद तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाता है। औदारिक-द्विक-आदि उक्त तीस प्रकृतियों में से वेदनीयकर्म की अन्यतर प्रकृति के सिवा शेष २६ कर्म-प्रकृतियाँ पुद्गल-विपाकिनी (पुद्गल द्वारा विपाक का अनुभव कराने वाली) हैं इनमें से सुस्वरनामकर्म और दुःस्वरनामकर्म—ये दो प्रकृतियाँ भाषा-पुद्गल-विपाकिनी हैं। इस से जब तक वचन-योग की प्रवृत्ति रहती है और भाषा-पुद्गलों का ग्रहण तथा परिणमन होता रहता है तभी तक उक्त दो प्रकृतियों का उदय हो सकता है। शेष २७ कर्म-प्रकृतियाँ शरीर-पुद्गल-विपाकिनी हैं इस लिये उनका भी उदय तभी तक हो सकता है जब तक कि काययोग के द्वारा पुद्गलों का ग्रहण, परिणमन और आलम्बन किया जाता है। तेरहवें गुणस्थान के चरम समय में ही योगों का निरोध होजाता है। अतएव पुद्गल-विपाकिनी उक्त २६ कर्म-प्रकृतियों का उदय भी उसी समय में रुक जाता है। इस प्रकार तेरहवें गुणस्थान में जिन ४२ कर्म-प्रकृतियों का उदय हो सकता है; उनमें से अन्यतरवेदनीय और उक्त २६ पुद्गल-विपाकिनी—कुल ३०

कर्म-प्रकृतियों को घटा देने से शेष १२ कर्म-प्रकृतियाँ रहती हैं। इन १२ कर्म प्रकृतियों का उदय चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक रहता है। इस के रुक जाते ही जीव, कर्म-मुक्त होकर पूर्ण-सिद्ध-स्वरूप को प्राप्त कर लेता है और मोक्ष को चला जाता है॥ २१ ॥ २२ ॥

इति

उदयाधिकार समाप्त।

उदय-यन्त्र

	गुणस्थानों के नाम.	मूल-प्रकृतियां.	उत्तर-प्रकृतियां.	ज्ञानावरणीय.	दर्शनावरणीय.	वेदनीयकर्म.	मोहनीय.	आयुकर्म.	नामकर्म.	गोत्रकर्म.	अन्तराय.
०	ओघ से.	८	१२२	५	९	२	२८	४	६७	२	५
१	मिथ्यात्व में.	८	११७	५	९	२	२६	४	६४	२	५
२	सास्वादन में.	८	१११	५	९	२	२५	४	५९	२	५
३	मिश्र में.	८	१००	५	९	२	२२	४	५१	२	५
४	अविरत में.	८	१०४	५	९	२	२२	४	५५	२	५
५	देशविरत में.	८	८७	५	९	२	१८	२	४४	२	५
६	प्रमत्त में.	८	८१	५	९	२	१४	१	४४	१	५
७	अप्रमत्त में.	८	७६	५	६	२	१४	१	४२	१	५
८	अपूर्वकरण में.	८	७२	५	६	२	१३	१	३९	१	५
९	अनिवृत्ति में	८	६६	५	६	२	७	१	३९	१	५
१०	सूक्ष्मसम्पराय में.	८	६०	५	६	२	१	१	३९	१	५
११	उपशान्तमोह में.	७	५९	५	६	२	०	१	३९	१	५
१२	क्षीणमोह में.	७	५७/५५	५	६/४	२	०	१	३७	१	५
१३	सयोगिकेवली में.	४	४२	०	०	२	०	१	३८	१	०
१४	अयोगिकेवली में.	४	१२	०	०	२	०	१	९	१	०

उदीरणाधिकार

अब प्रत्येक-गुणस्थान में जितनी जितनी कर्म-प्रकृतियों की उदीरणा हो सकती है उन्हें दिखाते हैं :—

उदउव्वुदीरणा परमपमत्ताई सगगुणेसु ॥ २३ ॥
उदय इवोदीरणा परमप्रमत्तादिसप्तगुणेषु ॥ २३ ॥

अर्थ—यद्यपि उदीरणा उदय के समान है-अर्थात् जिस गुणस्थान में जितनी कर्म-प्रकृतियों का उदय होता है उस गुणस्थान में उतनी ही कर्म-प्रकृतियों की उदीरणा भी होती है। तथापि सातवें गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान-पर्यन्त सात गुणस्थानों में उदय की अपेक्षा उदीरणा में कुछ विशेष है ॥ २३ ॥

उस विशेष को ही दिखाते हैं :—

एसा पयडि-तिगूणा वेयणियाहारजुगलथीणतीगं ।
मणुयाउ पमत्तंता अजोगि अणुदीरगो भगवं ॥ २४ ॥
एषा प्रकृतित्रिकोना वेदनीयाहारक-युगलस्त्यानर्द्धित्रिकम् ।
मनुजायुः प्रमत्तान्ता अयोग्यनुदीरको भगवान् ॥ २४ ॥

अर्थ—सातवें गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान-पर्यन्त, प्रत्येक गुणस्थान में उदीरणा-योग्य-कर्म-प्रकृतियाँ, उदय-योग्य-कर्म-प्रकृतियों से तीन तीन कम होती हैं; क्योंकि छट्ठे गुणस्थान के अन्तिम समय में आठ कर्म-प्रकृतियों की

उदीरणा रुक जाती है । इससे आगे के गुणस्थानों में उन आठ कर्म-प्रकृतियों की उदीरणा नहीं होती । वे आठ कर्म-प्रकृतियाँ ये हैं—वेदनीय की दो प्रकृतियाँ (२) आहारक-द्विक (४) स्त्यानर्द्धि-त्रिक (७) और मनुष्य-आयु (८)। चौदहवें गुणस्थान में वर्तमान अयोगिकेवलिभगवान् किसी भी कर्म की उदीरणा नहीं करते ॥ २४ ॥

भावार्थ—पहले से छट्ठे पर्यन्त छःगुणस्थानों मे उदीरणा योग्य-कर्म-प्रकृतियाँ, उदय-योग्य कर्मप्रकृतियों के वरावर ही होती हैं। जैसे—पहले गुणस्थान में उदय-योग्य तथा उदीरणा योग्य एक सौ सत्रह कर्म-प्रकृतियाँ होती हैं। दूसरे गुणस्थान में १११ कर्म-प्रकृतियों का उदय तथा उदीरणा होती है। तीसरे गुणस्थान में उदय और उदीरणा दोनों ही सौ सौ कर्म-प्रकृतियों के होते हैं। चौथे गुणस्थान में उदय १०४ कर्म-प्रकृतियों का और उदीरणा भी १०४ कर्म-प्रकृतियों की होती है। पांचवें गुणस्थान में ८७ कर्म-प्रकृतियों का उदय और ८७ कर्म-प्रकृतियों की उदीरणा होती है। तथा छट्ठे गुणस्थान में उदय-योग्य भी ८१ कर्म-प्रकृतियाँ और उदीरणा-योग्य भी ८१ ही कर्म-प्रकृतियाँ होती हैं। परन्तु सातवें गुणस्थान से लेकर तेरहवें पर्यन्त सात गुणस्थानों में उदय-योग्य-कर्म-प्रकृतियों की तथा उदीरणा-योग्य कर्म-प्रकृतियों की संख्या समान नहीं है। किन्तु उदीरणा-योग्य-कर्म-प्रकृतियाँ उदय-योग्य-कर्म-प्रकृतियों से तीन तीन कम होती हैं। इसका कारण यह है कि छट्ठे गुणस्थान के अन्तिम समय में उदय-विच्छेद आहारकद्विक और स्त्यानर्द्धित्रिक— इन पांच प्रकृतियों का ही होता है। परन्तु उदीरणा-विच्छेद उक्त ५ प्रकृतियों के सिवाय वेदनीयद्विक तथा मनुष्य-आयु-इन तीन प्रकृतियों का भी होता है। छट्ठे गुणस्थान से आगे के

गुणस्थानों में ऐसे अध्यवसाय नहीं होते जिनसे कि वेदनीय-द्विक की तथा आयु की उदीरणा हो सके। इससे सातवें-आदि गुणस्थानों में उदय-योग्य तथा उदीरणा-योग्य कर्म-प्रकृतियों की संख्या इस प्रकार होती है:—सातवें गुणस्थान में उदय ७६ प्रकृतियों का और उदीरणा ७३ प्रकृतियों की। आठवें गुणस्थान में उदय ७२ प्रकृतियों का और उदीरणा ६९ प्रकृतियों की। नववें गुणस्थान में उदय ६६ कर्म-प्रकृतियों का और उदीरणा ६३ कर्म-प्रकृतियों की। दसवें में उदय-योग्य ६० कर्म-प्रकृतियाँ और उदीरणा-योग्य ५७ कर्म-प्रकृतियाँ। ग्यारहवें में उदय-योग्य ५९ कर्म-प्रकृतियाँ और उदीरणा-योग्य ५६ कर्म-प्रकृतियाँ। बारहवें गुणस्थान में उदय-योग्य ५७ कर्म-प्रकृतियाँ और उदीरणा-योग्य ५४ कर्म-प्रकृतियाँ। और उसी गुणस्थान के अन्तिम-समय में उदय-योग्य ५५ कर्म-प्रकृतियाँ और उदीरणा-योग्य ५२ कर्म-प्रकृतियाँ तथा तेरहवें गुणस्थान में उदय-योग्य ४२ कर्म-प्रकृतियाँ और उदीरणा-योग्य ३९ कर्म-प्रकृतियाँ हैं। चौदहवें गुणस्थान में किसी भी कर्म की उदीरणा नहीं होती; क्योंकि उदीरणा के होने में योग की अपेक्षा है, पर उस गुणस्थाल में योग का सर्वथा निरोध ही हो जाता है ॥२४॥

॥ इति ॥

उदीरणाधिकार समाप्तः

उदीरणा-यन्त्र

	गुणस्थानों के नाम.	मूल-प्रकृतियां.	उत्तर-प्रकृतियां.	ज्ञानावरणीय.	दर्शनावरणीय.	वेदनीयकर्म.	मोहनीयकर्म.	आयुकर्म.	नामकर्म.	गोत्रकर्म.	अन्तरायकर्म.
०	ओघ से.	८	१२२	५	९	२	२८	४	६७	२	५
१	मिथ्यात्व में.	८	११७	५	९	२	२६	४	६४	२	५
२	सास्वादन में.	८	१११	५	९	२	२५	४	५९	२	५
३	मिश्र में.	८	१००	५	९	२	२२	४	५१	२	५
४	अविरत में.	८	१०४	५	९	२	२२	४	५५	२	५
५	देशविरत में.	८	८७	५	९	२	१८	२	४४	२	५
६	प्रमत्त में.	८	८१	५	९	२	१४	१	४४	१	५
७	अप्रमत्त में.	६	७३	५	६	०	१४	०	४२	१	५
८	अपूर्वकरण में.	६	६९	५	६	०	१३	०	३९	१	५
९	अनिवृत्तिबादर में	६	६३	५	६	०	७	०	३९	१	५
१०	सूक्ष्मसम्पराय में.	६	५७	५	६	०	१	०	३९	१	५
११	उपशान्तमोह में.	५	५६	५	६	०	०	०	३९	१	५
१२	क्षीणमोह में.	५	५४/५२	५	६/४	०	०	०	३७	१	५
१३	सयोगिकेवली में.	२	३९	०	०	०	०	०	३८	१	०
१४	अयोगिकेवली में.	०	०	०	०	०	०	०	०	०	०

सत्ताधिकार ।

पहले सत्ता का लक्षण कहकर, अनन्तर प्रत्येक गुणस्थान में सत्ता-योग्य कर्म-प्रकृतियों को दिखाते हैं:—

सत्ता कम्माणठिई बंधाई-लद्ध-अत्त-लाभाणं ।
संते अडयाल-सयं जा उवसमु विजिणु बियतइए ॥ २५ ॥
सत्ता कर्मणां स्थितिर्बन्धादिलब्धात्मलाभानाम् ।
सत्यष्टाचत्वारिंशच्छतं यावदुपशमं विजिनं द्वितीयतृतीये॥२५॥

अर्थ—कर्म-योग्य जिन पुद्गलों ने बन्ध या संक्रमणद्वारा अपने स्वरूप को (कर्मत्व को) प्राप्त किया है उन कर्मों के आत्मा के साथ लगे रहने को "सत्ता" समझना चाहिये। सत्ता-में १४८ कर्म-प्रकृतियाँ मानी जाती हैं । पहले गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान-पर्यन्त ग्यारह गुणस्थानों में से, दूसरे और तीसरे गुणस्थान को छोड़कर शेष नव गुणस्थानों में १४८ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता पाई जाती है। दूसरे तथा तीसरे गुणस्थान में १४७ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता होती है; क्योंकि उन दो गुणस्थानों में तीर्थङ्करनामकर्म की सत्ता नहीं होती ॥ २५ ॥

भावार्थ—बन्ध के समय जो कर्म-पुद्गल जिस कर्म-स्वरूप में परिणत होते हैं उन कर्म-पुद्गलों का उसी कर्म-स्वरूप में आत्मा से लगा रहना यह कर्मों की "सत्ता" कहाती है। इस प्रकार उन्हीं कर्म-पुद्गलों का प्रथम स्वरूप को छोड़ दूसरे कर्म-स्वरूप में बदल, आत्मा से लगा रहना, यह भी "सत्ता" कहलाती है। प्रथम प्रकार की सत्ता-

को "बन्ध-सत्ता" के नाम से और दूसरे प्रकार की सत्ता-को "संक्रमण-सत्ता" के नाम से पहचानना चाहिये।

सत्ता में १४८ कर्म-प्रकृतियाँ मानी जाती हैं। उदयाधिकार में पाँच बंधनों और ५ संघातनों की विवक्षा जुदी नहीं की है, किन्तु उन दसों कर्म-प्रकृतियों का समावेश पाँच शरीरनामकर्मों में किया गया है। तथा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शनाम कर्म की एक एक प्रकृति ही विवक्षित है। परन्तु इस सत्ता-प्रकरण में बन्धन तथा संघातननामकर्म के पाँच पाँच भेद, शरीरनामकर्म से जुदे गिने गये हैं। तथा वर्ण, गन्ध, रस, और स्पर्शनामकर्म की एक एक प्रकृति के स्थान-में, इस जगह ५ वर्ण, २ गन्ध, ५ रस, ८ स्पर्शनाम-कर्म गिने जाते हैं। जैसे—(१) औदारिकबन्धननामकर्म, (२) वैक्रिय-बन्धननामकर्म, (३) आहारकबन्धननामकर्म, (४) तैजस-बन्धननामकर्म और (५) कार्मणबन्धननामकर्म—येपाँच बन्धननामकर्म। (१) औदारिक-संघातननामकर्म, (२) वैक्रियसंघातननामकर्म, (३) आहारकसंघातननामकर्म, (४) तैजससंघातननामकर्म और(५)कार्मणसंघातननामकर्म, ये पाँच संघातननामकर्म। (१) कृष्णनामकर्म, (२) नीलनामकर्म, (३) लोहितनामकर्म, (४) हारिद्रनामकर्म और (५) शुक्लनामकर्म—ये पांच वर्णनामकर्म। (१) सुरभिगन्धनामकर्म और दुरभिगन्ध-नामकर्म ये दो गन्धनामकर्म। (१) तिक्तरसनामकर्म,(२) कटु-करसनामकर्म, (३)कषायरसनामकर्म,(४)अम्लरसनामकर्म,(५) मधुररसनामकर्म—ये पांच रसनामकर्म। (१)कर्कशस्पर्शनाम-कर्म,(२) मृदुस्पर्शनामकर्म, (३) लघुस्पर्शनामकर्म, (४) गुरुस्पर्श-नामकर्म, (५) शीतस्पर्शनामकर्म, (६) उष्णस्पर्शनामकर्म, (७) स्निग्धस्पर्शनामकर्म, (८) रूक्षस्पर्शनामकर्म—ये आठ स्पर्श-

नामकर्म। इस तरह उदय-योग्य १२२ कर्म-प्रकृतियों में बन्धन-नामकर्म तथा संघातन-नामकर्म के पांच पांच भेदों को मिलाने से और वर्णादिक के सामान्य चार भेदों के स्थान में उक्त प्रकार से २० भेदों के गिनने से कुल १४८ कर्म-प्रकृतियाँ सत्ताधिकार में होती हैं। इन सब कर्म-प्रकृतियों के स्वरूप को व्याख्या पहिले कर्मग्रन्थ से जान लेनी चाहिये।

जिसने पहले, नरक की आयु का बन्ध कर लिया है और पीछे से क्षायोपशमिक-सम्यक्त्व को पाकर उसके बल से तीर्थङ्करनामकर्म को भी बाँध लिया है, वह जीव नरक में जाने के समय सम्यक्त्व का त्याग कर मिथ्यात्व को अवश्य ही प्राप्त करता है। ऐसे जीव की अपेक्षा से ही, पहिले गुणस्थान-में तीर्थङ्करनामकर्म की सत्ता मानी जाती है। दूसरे या तीसरे गुणस्थान में वर्तमान कोई जीव, तीर्थङ्करनामकर्म को बाँध नहीं सकता; क्योंकि उन दो गुणस्थानों में शुद्ध सम्यक्त्व ही नहीं होता जिससे कि तीर्थङ्करनामकर्म, बाँधा जा सके। इस प्रकार तीर्थङ्करनामकर्म को बाँध कर भी कोई जीव सम्यक्त्व से च्युत होकर, दूसरे या तीसरे गुणस्थान को प्राप्त कर नहीं सकता। अतएव कहा गया है कि दूसरे और तीसरे गुणस्थान में तीर्थङ्करनामकर्म को छोड़, १४७ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता हो सकती है॥

पहले गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक ११ गुणस्थानों में से दूसरे और तीसरे गुणस्थान को छोड़ कर शेष नव गुणस्थानों में १४८ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता कही जाती है; सो योग्यता की अपेक्षा से समझना चाहिये। क्योंकि किसी भी जीव को एक समय में दो आयुओं से अधिक आयु की सत्ता हो नहीं सकती; परन्तु योग्यता सब

कर्मों की हो सकती है जिससे सामग्री मिलने पर जो कर्म अभी वर्तमान नहीं है उसका भी बन्ध और सत्ता हो सके। इस प्रकार की योग्यता को सम्भव-सत्ता कहते हैं और वर्तमान कर्म की सत्ता को स्वरूप-सत्ता ॥ २५ ॥

चतुर्थ-आदि गुणस्थानों में प्रकारान्तर से भी सत्ता का वर्णन करते हैं:—

अपुव्वाइ-चउक्के अण-तिरि-निरयाउ विणु वियाल-सयं ।
संमाइ चउसु सत्तग-खयंमि इगचत्त-सयमहवा ॥ २६ ॥
अपूर्वादिचतुष्केऽनतिर्यग्निरयायुर्विना द्वाचत्वारिंशच्छतम् ।
सम्यगादिचतुर्षु सप्तकक्षय एकचत्वारिंशच्छतमथवा ॥ २६॥

अर्थ—१४८ कर्मप्रकृतियों में से अनन्तानुबन्धि-चतुष्क तथा नरक और तिर्यञ्चआयु—इन छः के सिवा शेष १४२ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता आठवें से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान-पर्यन्त चार गुणस्थानों में होती है । तथा अनन्तानुबन्धि-चतुष्क और दर्शन-त्रिक—इन सात कर्म-प्रकृतियों का क्षय हो जाने पर शेष १४१ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता चौथे से सातवें पर्यन्त चार गुणस्थानों में हो सकती है ॥२६॥

भावार्थ—पञ्चसंग्रह का सिद्धान्त है कि "जो जीव अनन्तानुबन्धिकषाय-चतुष्क की विसंयोजना नहीं करता वह उपशम-श्रेणि का प्रारम्भ नहीं कर सकता"। तथा यह सर्व सम्मत सिद्धान्त है कि "नरक की या तिर्यञ्च की आयु को बाँध कर जीव उपशम-श्रेणि को नहीं कर सकता"। इन दो सिद्धान्तों के अनुसार १४२ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता का पक्ष

माना जाता है; क्योंकि जो जीव अनन्तानुबन्धिकषाय-चतुष्क की विसंयोजना कर और देव-आयु को बाँध कर उपशम-श्रेणि को करता है उस जीव को अष्टम आदि ४ गुणस्थानों में १४२ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता होती है। विसंयोजना, क्षय को ही कहते हैं; परन्तु क्षय और विसंयोजना में इतना ही अन्तर है कि क्षय में नष्टकर्म का फिर से सम्भव नहीं होता और विसंयोजना में होता है।

चौथे से लेकर सातवें पर्यन्त चार गुणस्थानों में वर्तमान जो जीव, क्षायिक-सम्यक्त्वी हैं—अर्थात् जिन्होंने अनन्तानुबन्धिकषाय-चतुष्क और दर्शन-त्रिक—इन सात कर्म-प्रकृतियों का क्षय किया है, उन की अपेक्षा से उक्त चार गुणस्थानों में १४१ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता मानी गई है। क्षायिक-सम्यक्त्वी होने पर भी जो चरमं शरीरी नहीं हैं—अर्थात् जो उसी शरीर से मोक्ष को नहीं पा सकते हैं किन्तु जिनको मोक्ष के लिये जन्मान्तर लेना बाकी है—उन जीवों की अपेक्षा से १४१ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता का पक्ष समझना चाहिये; क्योंकि जो चरम शरीरी क्षायिक-सम्यक्त्वी हैं उन को मनुष्य-आयु के अतिरिक्त दूसरी आयु की न तो स्वरूप-सत्ता है और न सम्भव-सत्ता ॥ २६ ॥

अब क्षपक जीव की अपेक्षा से सत्ता का वर्णन करते हैं।

खवगंतु पप्प चउसुवि पणयालं नरयतिरिसुराउविणा।
सत्तगविणु अडतीसं जा अनियट्टी पढमभागो ॥ २७ ॥
क्षपकं तु प्राप्य चतुर्ष्वपि पञ्चचत्वारिंशन्नरकतिर्यक्सुरायुर्विना
सप्तकं विनाष्टात्रिंशद्यावदनिवृत्तिप्रथमभागः ॥ २७ ॥

अर्थ—जो जीव क्षपक (क्षपकश्रेणि कर उसी जन्म में मोक्ष पानेवाला) है उसकी अपेक्षा से चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें पर्यन्त चार गुणस्थनों में १४५ कर्म-प्रकृतियों-की सत्ता पायी जाती है; क्योंकि उस क्षपक-जीव को—अर्थात् चरमशरीरी जीव को—नरक-आयु, तिर्यञ्च-आयु और देव-आयु—इन तीन कर्म-प्रकृतियों की न तो स्वरूप-सत्ता है और न सम्भव सत्ता । जो जीव क्षायिकसम्यक्त्वी होकर क्षपक है, उसकी अपेक्षा से चौथे गुणस्थान से लेकर नवें गुणस्थान के प्रथम-भाग-पर्यन्त उक्त तीन आयु, अनन्तानुबन्धि-कषायचतुष्क और दर्शन-त्रिक—इन दस को छोड़कर १४८ में से शेष १३८ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता पायी जाती है ॥ २७ ॥

भावार्थ—जो जीव, वर्तमान-जन्म में ही क्षपक-श्रेणि कर सकते हैं, वे क्षपक या चरम-शरीरी कहाते हैं। उनको मनुष्य-आयु ही सत्ता में रहती है दूसरी आयु नहीं । इस तरह उनको आगे भी दूसरी आयु की सत्ता होने की सम्भावना नहीं है। इसलिये उन क्षपक-जीवों को मनुष्य-आयु के सिवा अन्य आयुओं की न तो स्वरूप-सत्ता है और न सम्भव-सत्ता । इसी अपेक्षा से क्षपक जीवों को १४५ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता कही हुई है। परन्तु क्षपक-जीवों में जो क्षायिक-सम्यक्त्वी हैं उनको अनन्तानुबन्धि-आदि सात कर्म-प्रकृतियों का भी क्षय हो जाता है। इसीलिये क्षायिक-सम्यक्त्वी क्षपक-जीवों को १३८ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता कही हुई है । जो जीव, वर्तमान-जन्म में क्षपकश्रेणि नहीं कर सकते, वे अचरम-शरीरी कहाते हैं। उनमें कुछ क्षायिक-सम्यक्त्वी भी होते हैं और कुछ औपशमिकसम्यक्त्वी तथा कुछ क्षायोपशमिक-सम्यक्त्वी। २५वीं गाथा में १४८

कर्मप्रकृतियों की सत्ता कही हुई है; सो क्षायोपशमिक-सम्यक्त्वी तथा औपशमिक-सम्यक्त्वी अचरमशरीरी जीव की अपेक्षा से। और जो २६वीं गाथा में १४१ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता कही हुई है, सो क्षायिक-सम्यक्त्वी अचरम-शरीरी जीव की अपेक्षा से। क्योंकि किसी भी अचरमशरीरी जीव को एक साथ सब आयुओं की सत्ता न होने पर भी उनकी सत्ता होने का सम्भव रहता ही है, इसीलिये उसको सब आयुओं की सत्ता मानी गई है ॥ २७ ॥

अब क्षपकश्रेणिवाले जीव की अपेक्षा से ही नववें आदि गुणस्थानों में कर्म-प्रकृतियों की सत्ता दिखाई जाती है:—

थावरतिरिनिरयायव-दुगथीणतिगेगविगलसाहारम्।
सोलखओ दुवीससयं बियंसि बियतियकसायंतो ॥ २८ ॥
स्थावरतिर्यग्निरयातपद्विकस्त्यानर्द्धित्रिकैकविकलसाधारम्।
षोडशक्षयो द्वाविंशतिशतं द्वितीयांशे द्वितीयतृतीयकषायान्तः॥

तइयाइसु चउदसतेरबारछपणचउतिहियसय कमसो।
नपु इत्थि हासछग पुंस तुरिय कोह मयमाय खओ ॥ २६ ॥
तृतीयादिषु चतुर्दशत्रयोदशद्वादशषट्पञ्चचतुस्त्र्यधिकशतं
क्रमशः; नपुंसकस्त्रीहास्यषट्कपुँस्तुर्यक्रोधमदमायाक्षयः॥२६॥

सुहुमि दुसय लोहन्तो खीणदुचरिमेगसओ दुनिद्दखओ।
नवनवइ चरमसमए चउदंसणनाणविग्घन्तो ॥ ३० ॥
सूक्ष्मे द्विशतं लोभान्तः क्षीणद्विचरम एकशतं द्विनिद्राक्षयः।
नवनवतिश्चरम-समये चतुर्दर्शनज्ञानविघ्नान्तः ॥ ३० ॥

पणसीइ सयोगि अजोगि दुचरिमे देवखगइ-गंधदुगं।
फासट्ठवंनरसतणुबंधणसंघायपणनिमिणं ॥ ३१ ॥

षडशीतिस्सयोगिन्ययोगिनि द्विचरमे देवखगतिगन्धद्विकम् ।
स्पर्शाष्टक-वर्णरसबंधनसंघातनपञ्चकनिर्माणम् ॥ ३१ ॥

संघयणअथिरसंठाण-छक्कअगुरुलहुचउअपज्जत्तं ।
सायं व असायं वा परित्तुवंगतिगसुसरनियं ॥ ३२ ॥

संहननास्थिरसंस्थानषट्कागुरुलघुचतुष्कापर्याप्तम् ।
सातं वाऽसातं वा प्रत्येकोपाङ्गत्रिकसुस्वरनीचम् ॥ ३२ ॥

बिसयरिखओ य चरिमे तेरस मणुयतसतिग-असाइज्जं ।
सुभगजिणुच्चपणिंदिय-सायासाएगयरछेओ ॥ ३३ ॥

द्वासप्ततिक्षयश्च चरमे त्रयोदश मनुजत्रसत्रिकयशआदेयम् ।
सुभगजिनोच्चपञ्चेन्द्रिय-सातासातैकतरच्छेदः ॥ ३३ ॥

अर्थ—नववें गुणस्थान के नव भागों में से पहिले भाग में १३८ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता पूर्व गाथा में कही हुई है। उन में से स्थावर-द्विक (स्थावर और सूक्ष्मनामकर्म) २ तिर्यञ्च-द्विक (तिर्यञ्चगति और तिर्यञ्च-आनुपूर्वीनाम-कर्म) ४, नरकद्विक-(नरकगति और नरक-आनुपूर्वी) ६ आतपद्विक-(आतपनामकर्म और उद्योतनामकर्म) ८ स्त्यानर्द्धि-त्रिक-(निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला और स्त्यानर्द्धि) ११, एकेन्द्रियजातिनामकर्म १२, विकलेन्द्रिय-(द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय-जातिनामकर्म) १५ और साधारणनामकर्म १६—इन सोलह कर्म-प्रकृतियों का क्षय प्रथम भाग के अन्तिम समय में हो जाता है; इस से दूसरे भागमें १२२ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता शेष रहती है। तथा १२२ में से अप्रत्याख्यानावरणकषाय-चतुष्क और प्रत्याख्यानावरण कषाय-चतुष्क—इन आठ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता का क्षय दूसरे भाग के अन्तिम समय में हो जाता है ॥ २८ ॥

अर्थ—अतएव, तीसरे भाग में ११४ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता रहती है। तीसरे भाग के अन्तिम-समय में नपुंसकवेद-का क्षय हो जाने से, चौथे भाग में ११३ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता रहती है। इस प्रकार चौथे भाग के अन्तिम समय में स्त्री-वेद का अभाव होने से पाँचवें भाग में ११२, पाँचवें भाग के अन्तिम-समय में हास्य-षट्क का क्षय होने से छट्ठे भाग में १०६, छट्ठे भाग के चरम समय में पुरुष-वेद का अभाव हो जाता है इस से सातवें भाग में १०५, सातवें भाग के अन्तिम समय में संज्वलनक्रोध का क्षय होने से आठवें भाग में १०४ और आठवें भाग के अन्तिम-समय में संज्वलनमान का अभाव होने से नववें भाग में १०३ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता शेष रहती है। तथा नववें गुणस्थान के नवम भाग के अन्तिम-समय में संज्वलन-माया का क्षय हो जाता है॥ २९॥

अर्थ—अतएव, दसवें गुणस्थान में १०२ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता रहती है। दसवें गुणस्थान के अन्तिम-समय में लोभ का अभाव होता है, इस से बारहवें गुणस्थान के द्विचरम-समय-पर्यन्त १०१ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता पायी जाती है। द्विचरम-समय में निद्रा और प्रचला—इन २ कर्म-प्रकृतियों का क्षय हो जाता है जिससे बारहवें गुणस्थान के अन्तिम-समय में ९९ कर्मप्रकृतियाँ सत्तागत रहती हैं। इन ९९ में से ५ ज्ञानावरण, ५ अन्तराय और ४ दर्शनावरण—इन १४ कर्म-प्रकृतियों का क्षय बारहवें गुणस्थान के अन्तिम-समय में हो जाता है॥ ३०॥

अर्थ—अतएव, तेरहवें गुणस्थान में और चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम-समय-पर्यन्त ८५ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता शेष

रहती है। द्विचरम-समय में ७२ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता का अभाव हो जाता है। वे ७२ कर्म-प्रकृतियाँ ये हैं—देव-द्विक २, खगति-द्विक ४, गन्ध-द्विक-(सुरभिगन्धनामकर्म और दुरभिगन्धनामकर्म) ६, स्पर्शाष्टक-(कर्कश, मृदु, लघु, गुरु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रुक्षस्पर्शनामकर्म) १४, वर्णपञ्चक—(कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र और शुक्लवर्णनामकर्म) १६, रसपञ्चक-(कटुक, तिक्त, कषाय, अम्ल और मधुररसनामकर्म) २४, पाँच शरीर नामकर्म-२९, बन्धन-पञ्चक- (औदारिक-बन्धन, वैक्रिय-बन्धन, आहारक-बन्धन, तैजस-बन्धन और कार्मण-बन्धननामकर्म) ३४, संघातन-पञ्चक-(औदारिक-संघातन, वैक्रिय-संघातन, आहारक-संघातन, तैजस-संघातन और कार्मणसंघातन-नामकर्म) ३९, निर्माणनामकर्म ४० ॥ ३१ ॥

अर्थ—संहनन-षट्क-(वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका और सेवार्तसंहनन-नामकर्म) ४६, अस्थिरषट्क-(अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय और अयशःकीर्ति-नामकर्म) ५२, संस्थान-षट्क-(समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, सादि, वामन, कुब्ज और हुण्डसंस्थान-नामकर्म) ५८, अगुरुलघु-चतुष्क ६२, अपर्याप्तनामकर्म ६३, सातवेदनीय या असातवेदनीय ६४, प्रत्येकत्रिक-(प्रत्येक, स्थिर और शुभनामकर्म) ६७, उपाङ्ग-त्रिक-(औदारिक-अङ्गोपाङ्ग, वैक्रिय-अङ्गोपाङ्ग और आहारक-अङ्गोपाङ्ग-नामकर्म) ७०, सुस्वरनामकर्म ७१ और नीचगोत्र ७२ ॥३२॥

अर्थ—उपर्युक्त ७२ कर्म-प्रकृतियों का क्षय चौदहवें गुणस्थान के द्विचरम समय में हो जाता है जिससे अन्तिम-

समय में १३ कर्मप्रकृतियों की सत्ता रहती है। वे तेरह कर्म-प्रकृतियाँ ये हैं—मनुष्य-त्रिक (मनुष्यगति, मनुष्यआनुपूर्वी और मनुष्यआयु) ३, त्रस-त्रिक—(त्रस, बादर और पर्याप्तनामकर्म) ६, यशःकीर्तिनामकर्म ७, आदेयनामकर्म ८, सुभगनामकर्म ९, तीर्थङ्करनामकर्म १०, उच्चगोत्र ११, पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्म १२ और सातवेदनीय या असात-वेदनीय में से कोई एक १३। इन तेरह कर्मप्रकृतियों का अभाव चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाता है और आत्मा निष्कर्म होकर सर्वथा मुक्त बन जाता है॥३३॥

मतान्तर और उपसंहार

नरअणुपुव्विविणा वा बारस चरिमसमयंमि जो खविउं।
पत्तो सिद्धिं देविंदवंदियं नमह तं वीरं ॥ ३४ ॥
नरानुपूर्वीं विना वा द्वादश चरम-समये यः क्षपयित्वा ।
प्राप्तस्सिद्धिं देवेन्द्रवन्दितं नमत तं वीरम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—अथवा पूर्वोक्त तेरह कर्म-प्रकृतियों में से मनुष्य-आनुपूर्वी को छोड़कर शेष १२ कर्मप्रकृतियों को चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में क्षीणकर जो मोक्ष को प्राप्त हुये हैं, और देवेन्द्रों ने तथा देवेन्द्रसूरि ने जिन का वन्दन (स्तुति तथा प्रणाम) किया है, ऐसे परमात्मा महावीर को तुम सब लोग नमन करो ॥ ३४ ॥

भावार्थ—किन्हीं आचार्यों का ऐसा भी मत है कि चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में मनुष्य-त्रिक आदि पूर्वोक्त १३ कर्मप्रकृतियों में से, मनुष्य-आनुपूर्वी के विना शेष १२-

कर्म-प्रकृतियों की ही सत्ता रहती है। क्योंकि देव-द्विक आदि पूर्वोक्त ७२ कर्मप्रकृतियाँ, जिनका कि उदय नहीं है वे जिस-प्रकार द्विचरम समय में स्तिवुकसंक्रम द्वारा उदयवती कर्म-प्रकृतियों में संक्रान्त होकर, क्षीण हो जाती हैं इसी प्रकार उदय न होने के कारण मनुष्यआनुपूर्वी भी द्विचरम-समय-में ही स्तिवुकसंक्रम-द्वारा उदयवती कर्म-प्रकृतियों में संक्रान्त हो जाती है। इसलिये द्विचरम-समय में उदयवती कर्म-प्रकृति में संक्रान्त पूर्वोक्त देव-द्विक आदि ७२ कर्म-प्रकृतियों की सत्ता चरम-समय में जैसे नहीं मानी जाती है वैसे ही द्विचरम-समय में उदयवती कर्म-प्रकृति में संक्रान्त मनुष्य-आनुपूर्वी की सत्ता को भी चरम-समय में न मानना ठीक है।

(अनुदयवती कर्म-प्रकृति के दलिकों को सजातीय और तुल्यस्थितिवाली उदयवती कर्म-प्रकृति के रूप में बदलकर उस के दलिकों के साथ भोग लेना; इसे "स्तिवुकसंक्रम" कहते हैं)

इस "कर्मस्तव" नामक दूसरे कर्मग्रन्थ के रचयिता श्रीदेवेन्द्रसूरि हैं। ये देवेन्द्रसूरि, तपागच्छाचार्य श्रीजगच्चन्द्र-सूरि के शिष्य थे ॥३४॥

सत्ताधिकारः समाप्तः

इति कर्मस्तव-नामक दूसरा कर्मग्रन्थ ।

॥ सत्ता–यन्त्र ॥

	गुणस्थानों के नाम.		मूल-प्रकृतियां.	उत्तर-प्रकृतियां.	उपशमश्रेणि	क्षपकश्रेणि	ज्ञानावरणीय.	दर्शनावरणीय.	वेदनीयकर्म.	मोहनीयकर्म.	आयुकर्म.	नामकर्म.	गोत्रकर्म.	अन्तरायकर्म.
०	ओघ से.		८	१४८	०	०	५	९	२	२८	४	९३	२	५
१	मिथ्यात्व में.		८	१४८	०	०	५	९	२	२८	४	९३	२	५
२	सास्वादन में.		८	१४७	०	०	५	९	२	२८	४	९२	२	५
३	मिश्र में.		८	१४७	०	०	५	९	२	२८	४	९२	२	५
४	अविरत में.		८	१४८	१४१	१४५/१३८	५	९	२	२८	४/१	९३	२	५
५	देशविरत में.		८	१४८	१४१	१४५/१३८	५	९	२	२८/२१	४/१	९३	२	५
६	प्रमत्त में.		८	१४८	१४१	१४५/१३८	५	९	२	२८/२१	४/१	९३	२	५
७	अप्रमत्त में.		८	१४८	१४१	१४५/१३८	५	९	२	२८/२१	४/१	९३	२	५
८	अपूर्वकरण में.		८	१४८/१४२	१३९	१३८	५	९	२	२४/२१	२/१	९३	२	५
९	अनिवृत्तिगुणस्थान के नव भागों में	१	८	१४८/१४२	१३९	१३८	५	९	२	२१	१	९३	२	५
		२	८	,,	,,	१२२	५	६	२	२१	१	८०	२	५
		३	८	,,	,,	११४	५	६	२	१३	१	८०	२	५
		४	८	,,	,,	११३	५	६	२	१२	१	८०	२	५
		५	८	,,	,,	११२	५	६	२	११	१	८०	२	५
		६	८	,,	,,	१०६	५	६	२	५	१	८०	२	५
		७	८	,,	,,	१०५	५	६	२	४	१	८०	२	५
		८	८	,,	,,	१०४	५	६	२	३	१	८०	२	५
		९	८	,,	,,	१०३	५	६	२	२	१	८०	२	५
१०	सूक्ष्मसम्पराय में.		८	१४८/१४२	१३९	१०२	५	६	२	२८/२४/२१, १	२/१	९३/८०	२	५
११	उपशान्तमोह में.		८	१४८/१४२	१३९	०	५	६	२	२८/२४/२१	४/१	९३/८०	२	५
१२	क्षीणमोह में.		७	१०१/९९	०	१०१/९९	५	६/४	२	०	१	८०	२	५
१३	सयोगिकेवली में.		४	८५	०	८५	०	०	२	०	१	८०	२	०
१४	अयोगिकेवली में.		४	८५/१३/१२	०	८५/१३/१२	०	०	२/१	०	१	८०/९	२/१	०

१४८ उत्तरप्रकृतियों के बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ताका गुणस्थान-दर्शक यन्त्र

नंबर	क्रमसे १४८ उत्तरप्रकृतियों के नाम	बन्धयोग्य गुणस्थान	उदययोग्य गुणस्थान	उदीरणायोग्य गुणस्थान	सत्तायोग्य गुणस्थान
	ज्ञानावरणीय—५				
१	मतिज्ञानावरणीय	१०	१२	१२	१२
२	श्रुतज्ञानावरणीय	१०	१२	१२	१२
३	अवधिज्ञानावरणीय	१०	१२	१२	१२
४	मनःपर्यवज्ञाना०	१०	१२	१२	१२
५	केवलज्ञाना०	१०	१२	१२	१२
	दर्शनावरणीय-९				
६	चक्षुर्दर्शनावरणीय	१०	१२	१२	१२
७	अचक्षुर्दर्शना०	१०	१२	१२	१२
८	अवधिदर्शना०	१०	१२	१२	१२
९	केवलदर्शना०	१०	१२	१२	१२
१०	निद्रा	* ७ १/७	१ समय न्यून-१२	१२	१ समय न्यून-१२
११	निद्रानिद्रा	२	६	६	८ १/२
१२	प्रचला	७ १/७	१ समय न्यून-१२	१२	१ समय न्यून-१२
१३	प्रचलाप्रचला	२	६	६	८ १/२
१४	स्त्यानर्द्धि	२	६	६	८ १/२

*इस में ७ को पूरा अङ्क और १/७ को एक सप्तमांश, अर्थात ७ गुणस्थान और आठवें के सात हिस्सों में से एक हिस्सा समझना। इस प्रकार दूसरे अङ्कों में भी समझ लेना

४१	जुगुप्सा ,,	८	८	८	८ ६/७
४२	पुरुषवेद	८ १/५	९	९	८ ४/७
४३	स्त्रीवेद	२	९	९	८ ४/७
४४	नपुंसकवेद	१	९	९	८ ३/७
	❀ आयु-कर्म—४				
४५	देवआयु	७	४	४	११
४६	मनुष्यआयु	४	१४	६	१४
४७	तिर्यंचआयु	२	५	५	७
४८	नरकआयु	१	४	४	७
	नाम-कर्म—९३				
४९	मनुष्यगति-नामकर्म	४	१४	१३	१४
५०	तिर्यञ्चगति ,,	२	५	५	८ १/७
५१	देवगति ,,	७ ६/७	४	४	१४
५२	नरकगति ,,	१	४	४	८ १/७
५३	एकेन्द्रियजाति ,,	१	२	२	८ १/७
५४	द्वीन्द्रियजाति ,,	१	२	२	८ १/७
५५	त्रीन्द्रियजाति ,,	१	२	२	८ १/७
५६	चतुरिन्द्रियजाति ,,	१	२	२	८ १/७
५७	पंचेन्द्रियजाति ,,	७ ६/७	१४	१३	१४
५८	औदारिकशरीर ,,	४	१३	१३	१४
५९	वैक्रिय ,, ,,	७ ६/७	४	४	१४
६०	आहारक ,, ,,	सातसे आठके६भाग	छट्ठा	छट्ठा	१४
६१	तैजस ,, ,,	७ ६/७	१३	१३	१४
६२	कार्मण ,, ,,	७ ६/७	१३	१३	१४
६३	औदारिकअङ्गोपाङ्ग ,,	४	१३	१३	१४

❀आयुकर्म का तीसरे गुणस्थान में बन्ध नहीं होता, इससे तीसरे को छोड़ अन्य गुणस्थानों को उसके बन्ध-योग्य समझना।

६४	वैक्रिय ,, ,,	७६/७	४	४	१४
६५	आहारक ,, ,,	सातसेआठ के ६ भाग	छठा.	छठा	१४
६६	औदारिकवंधन ,,	०	०	०	१४
६७	वैक्रिय ,, ,,	०	०	०	१४
६८	आहारक ,, ,,	०	०	०	१४
६९	तैजस ,, ,,	०	०	०	१४
७०	कार्मण ,, ,,	०	०	०	१४
७१	औदारिकसंघातन ,,	०	०	०	१४
७२	वैक्रिय ,, ,,	०	०	०	१४
७३	आहारक ,, ,,	०	०	०	१४
७४	तैजस ,, ,,	०	०	०	१४
७५	कार्मण ,, ,,	०	०	०	१४
७६	वज्रऋषभनाराचसह०	४	१३	१३	१४
७७	ऋषभनाराच ,,	२	११	११	१४
७८	नाराच ,,	२	११	११	१४
७९	अर्धनाराच ,,	२	७	७	१४
८०	कीलिका ,,	२	७	७	१४
८१	सेवार्त ,,	१	७	७	१४
८२	समचतुरस्रसंस्थान	७ ६/७	१३	१३	१४
८३	न्यग्रोध० ,,	२	१३	१३	१४
८४	सादि ,,	२	१३	१३	१४
८५	वामन ,,	२	१३	१३	१४
८६	कुब्ज ,,	२	१३	१३	१४
८७	हुंडक ,,	१	१३	१३	१४
८८	कृष्णवर्ण-नामकर्म	७ ६/७	१३	१३	१४
८९	नीलवर्ण ,,	,,	,,	,,	,,
९०	लोहितवर्ण ,,	,,	,,	,,	,,
९१	हारिद्रवर्ण ,,	,,	,,	,,	,,
९२	शुक्लवर्ण ,,	,,	,,	,,	,,
९३	सुरभिगन्ध ,,	,,	,,	,,	,,

९४	दुरभिगन्ध	,,	,,	,,	,,	,,
९५	तिक्तरस	,,	,,	,,	,,	,,
९६	कटुकरस	,,	,,	,,	,,	,,
९७	कषायरस	,,	,,	,,	,,	,,
९८	अम्लरस	,,	,,	,,	,,	,,
९९	मधुररस	,,	,,	,,	,,	,,
१००	कर्कशस्पर्श	,,	,,	,,	,,	,,
१०१	मृदुस्पर्श	,,	,,	,,	,,	,,
१०२	गुरुस्पर्श	,,	,,	,,	,,	,,
१०३	लघुस्पर्श	,,	,,	,,	,,	,,
१०४	शीतस्पर्श	,,	,,	,,	,,	,,
१०५	उष्णस्पर्श	,,	,,	,,	,,	,,
१०६	स्निग्धस्पर्श	,,	,,	,,	,,	,,
१०७	रुक्षस्पर्श	,,	,,	,,	,,	,,
१०८	नरकानुपूर्वी	,,	१	१,४-२	१,४-२	८ १/९
१०९	तिर्यञ्चानुपूर्वी	,,	२	१,२,४-३	१,२,४-३	८ १/९
११०	मनुष्यानुपूर्वी	,,	४	१,२,४-३	१,२,४-३	१४
१११	देवानुपूर्वी	,,	७ ६/७	१,२,४-३	१,२,४-३	१४
११२	शुभविहायोगति	,,	७ ६/७	१३	१३	१४
११३	अशुभविहायोगति	,,	२	१३	१३	१४
११४	पराघात	,,	७ ६/७	१३	१३	१४
११५	उच्छ्वास	,,	७ ६/७	१३	१३	१४
११६	आतप	,,	१	१	१	८ १/९
११७	उद्योत	,,	२	५	५	८ १/५
११८	अगुरुलघु	,,	७ ६/७	१३	१३	१४
११९	तीर्थङ्कर	,,	चौथासे आठवें के ६ भाग तक	१३,१४-२	तेरहवाँ	द.ती० छोड़-१२
१२०	निर्माण	,,	७ ६/७	१३	१३	१४
१२१	उपघात	,,	७-६/७	१३	१३	१४
१२२	त्रस	,,	७ ६/७	१४	१३	१४
१२३	बादर	,,	७ ६/७	१४	१३	१४

१२४	पर्याप्त ,,	८ $\frac{६}{७}$	१४	१३	१४
१२५	प्रत्येक ,,	८ $\frac{६}{७}$	१३	१३	१४
१२६	स्थिर ,,	८ $\frac{६}{७}$	१३	१३	१४
१२७	शुभ ,,	८ $\frac{६}{७}$	१३	१३	१४
१२८	सुभग ,,	८ $\frac{६}{७}$	१४	१३	१४
१२९	सुस्वर ,,	८ $\frac{६}{७}$	१३	१३	१४
१३०	आदेय ,,	८ $\frac{६}{७}$	१४	१३	१४
१३१	यशःकीर्त्ति ,,	१०	१४	१३	१४
१३२	स्थावर ,,	१	२	२	८ $\frac{१}{२}$
१३३	सूक्ष्म ,,	१	१	१	८ $\frac{१}{२}$
१३४	अपर्याप्त ,,	१	१	१	१४
१३५	साधारण ,,	१	१	१	८ $\frac{१}{२}$
१३६	अस्थिर ,,	६	१३	१३	१४
१३७	अशुभ ,,	६	१३	१३	१४
१३८	दुर्भग ,,	२	४	४	१४
१३९	दुःस्वर ,,	२	१३	१३	१४
१४०	अनादेय ,,	२	४	४	१४
१४१	अयशःकीर्त्ति ,,	६	४	४	१४
	गोत्र-कर्म—२				
१४२	उच्चैर्गोत्र	१०	१४	१३	१४
१४३	नीचगोत्र	२	५	५	१४
	अन्तरायकर्म—५				
१४४	दानान्तराय	१०	१२	१२	१२
१४५	लाभान्तराय	१०	१२	१२	१२
१४६	भोगान्तराय	१०	१२	१२	१२
१४७	उपभोगान्तराय	१०	१२	१२	१२
१४८	वीर्यान्तराय	१०	१२	१२	१२

परिशिष्ट।

'गुणस्थान' शब्द का समानार्थक दूसरा शब्द श्वेताम्बर शास्त्र में देखने में नहीं आता; परन्तु दिगम्बर-साहित्य में उसके पर्याय शब्द पाये जाते हैं; जैसेः—संक्षेप, ओघ, सामान्य और जीवसमास।

(गोम्मटसार जी० गा० ३–१०)

"ज्ञान आदि गुणों की शुद्धि तथा अशुद्धि के न्यूनाधिक भाव से होने वाले जीव के स्वरूप, गुणस्थान हैं।" गुणस्थान की यह व्याख्या श्वेताम्बर-ग्रन्थों में देखी जाती है। दिगम्बर-ग्रन्थों में उसकी व्याख्या इस प्रकार है—"दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय की उदय आदि अवस्थाओं के समय, जो भाव होते हैं उनसे जीवों का स्वरूप जाना जाता है; इसलिये वे भाव, गुणस्थान कहाते हैं।" (गो० जी० गा० ८)

सातवें आदि गुणस्थानों में वेदनीयकर्म की उदीरणा नहीं होती, इससे उन गुणस्थानों में आहारसंज्ञा को गोम्मटसार (जीवकाण्ड गा० १३८) में नहीं माना है। परन्तु उक्त गुणस्थानों में उस संज्ञा का स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं जान पड़ती, क्योंकि उन गुणस्थानों में असातवेदनीय के उदय आदि अन्य कारणों का सम्भव है।

देशविरति के ११ भेद गोम्मटसार (जी० गा० ४७६) में हैं; जैसेः—(१) दर्शन, (२) व्रत, (३) सामायिक, (४) प्रोषध (५) सचित्तविरति, (६) रात्रिभोजन-विरति, (७) ब्रह्मचर्य, (८) आरम्भविरति, (९) परिग्रहविरति, (१०) अनुमतिविरति, और (११) उद्दिष्टविरति। इस में 'प्रोषध' शब्द श्वेताम्बरसम्प्रदाय-प्रसिद्ध 'पौषध' शब्द के स्थान में है।

गुणस्थान के क्रम से जीवों के पुण्य, पाप दो भेद हैं। मिथ्यात्वी या मिथ्यात्वोन्मुख जीवों को पापजीव और सम्यक्त्वी जीवों को पुण्यजीव कहा है।

(गो० जी०गा० ६२१)

उदयाधिकार में प्रत्येक गुणस्थान में उदययोग्य प्रकृतियों की जो जो संख्या कही हुई है, वह सब गोम्मटसार में उल्लिखित भूतबलि आचार्य के मत के साथ मिलती है। परन्तु उसी ग्रन्थ (कर्म० गा० २६३-२६४) में जो यतिवृषभाचार्य के मत का उल्लेख किया है उस के साथ कहीं कहीं नहीं मिलती। पहले गुणस्थान में यतिवृषभाचार्य ११२ प्रकृतियों का उदय और चौदहवें गुणस्थान में १३ प्रकृतियों का उदय मानते हैं। परन्तु कर्मग्रन्थ में पहिले गुणस्थान में ११७ प्रकृतियों का और चौदहवें गुणस्थान में १२ प्रकृतियों का उदय माना है।

कर्मग्रन्थ में दूसरे गुणस्थान में तीर्थङ्करनामकर्म के सिवाय १४७ प्रकृतियों की सत्ता मानी हुई है, परन्तु गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) में आहारकद्विक और तीर्थङ्करनामकर्म, इन तीन प्रकृतियों के सिवाय १४५ ही की सत्ता उस गुण-

स्थान में मानी है । इसीप्रकार गोम्मटसार (कर्मकाण्ड-३३३ से ३३६) के मतानुसार पाँचवें गुणस्थान में वर्तमान जीव को नरक-आयु की सत्ता नहीं होती और छट्ठे तथा सातवें गुणस्थान में नरक-आयु, तिर्यञ्च-आयु दो की सत्ता नहीं होती; अतएव उस ग्रन्थ में पाँचवें गुणस्थान में १४७ की और छट्ठे, सातवें गुणस्थान में १४६ की सत्ता मानी हुई है । परन्तु कर्मग्रन्थ के मतानुसार पाँचवें गुणस्थान में नरक-आयु की और छट्ठे, सातवें गुणस्थान में नरक, तिर्यञ्च दो आयुओं की सत्ता भी हो सकती है ।

दूसरे कर्मग्रन्थ का कोष।

(हिन्दी-अर्थ-सहित)

कोष.

अ

गाथा-अङ्क.	प्राकृत.	संस्कृत	हिन्दी.
२०	अ	च	और.
४, ५, ६, ९, १०, १२, १४, १५, १८, १९, २०, २३, २४, २८, ३०.	अंत	अन्त	विच्छेद.
२०	अंतराय	अन्तराय	अन्तरायकर्म.
१८	अंतिम	अन्तिम	अन्त का—आखरी.
१०, २८,	अंस	अंश	भाग—हिस्सा.
२१	अगुरुलहु	अगुरुलघु	अगुरुलघुनामकर्म.
१०, ३२,	अगुरुलहुचउ	अगुरुलघुचतुष्क	अगुरुलघुनाम, उपघातनाम, पराघातनाम और उच्छ्वास-नामकर्म.
१५	अजय	अयत	अविरतसम्यग्दृष्टिगु० पृ० १२
७	अजस	अयशः	अयशःकीर्त्तिनामकर्म.
२२, २४, ३१	अजोगि	अयोगिन्	अयोगिकेवलिगु० पृ० २९
२	अजोगिगुण	अयोगिगुण	,,
१७, ३१	अट्ठ	अष्टन्	आठ.
८	अट्ठावण्ण	अष्टापञ्चाशत्	अट्ठावन.

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
२७	अडतीस	अष्टात्रिंशत्	अडतीस.
२५	अडयाल-सय	अष्टाचत्वारिंशच्छत	एक सौ अड़तालीस.
८	अडवन्न	अष्टापञ्चाशत्	अट्ठावन.
५,१४,२६	अण	अन	अनन्तानुबन्धिकषाय.
१२	अणंत	अनन्त	अन्त का अभाव.
१६	अणाइज्जदुग	अनादेयद्विक	अनादेयनाम और अयशः-कीर्त्तिनामकर्म.
१३,१४,१५	अणुदय	अनुदय	उदय का अभाव.
२४	अणुदीरग	अनुदीरक	उदीरणा नहीं करने वाला.
१५	अणुपुव्वी	आनुपूर्वी	आनुपूर्वीनामकर्म.
२५	अत्तलाभ	आत्मलाभ	स्वरूप-प्राप्ति.
२१,३२	अथिर	अस्थिर	अस्थिरनामकर्म.
७	अथिरदुग	अस्थिरद्विक्	अस्थिरनामकर्म और अशुभ-नामकर्म.
२२	अन्नयर	अन्यतर	दो में से एक.
८	अन्नह	अन्यथा	अन्य प्रकार से.
२,११,१८,२७,	अनियट्टि	अनिवृत्ति	अनिवृत्तिबादरसम्पराय-गु०पृ०२०
३२	अपज्जत्त	अपर्याप्त	अपर्याप्तनामकर्म.
१३	अपत्त	अप्राप्त	प्राप्त नहीं.
२,८,१७,२३	अपमत्त	अप्रमत्त	अप्रमत्तसंयतगु० पृ० १५
६,१८,२६	अपुव्व	अपूर्व	अपूर्वकरणगुणस्थान पृ० १६

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
५—	अबंध	अबन्ध	बन्धाभाव.
३—	अभिनव	अभिनव	नया.
७—	अरइ	अरति	अरतिमोहनीय.
२ —	अविरय	अविरत	अविरतसम्यग्दृष्टिगु० पृ० १२.
२२—	असाय	असात	असातवेदनीय.
७—	अस्साय	असात	,,
३२, ३३—	असाय	असात	,,
२६—	अहवा	अथवा	पक्षान्तर.

आ

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
९—	आइ	आदि	आरम्भ.
२३, २५, २६, २९ —	आइ	आदि	वगैरह.
२२, ३३—	आइज्ज	आदेय	आदेयनामकर्म.
२१ —	आइसंघयण	आदिसंहनन	प्रथम—वज्रऋषभनाराच-संहनन.
६, १६, २३—	आउ	आयुस्	आयुकर्म.
५—	आउअ	आयुष्क	,,
८—	आगच्छे	आ+गम्—आगच्छेत्	आवे.
५—	आगिइ	आकृति	संस्थाननाम.
४, १४—	आयव	आतप	आतपनामकर्म.
२८—	आयवदुग	आतपद्विक	आतपनामकर्म और उद्योत-नामकर्म.
१३—	आहार	आहारक	आहारकशरीर तथा आहा-

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
			रकअङ्गोपाङ्गनाम.
१७,२४	—आहारजुगल	आहारकद्विक	,,
३,८,१७	—आहारगदुग	आहारकद्विक	,,

ई

१४,२८	—इग	एक	एकेन्द्रियजातिना०
२६	—इगचत्तसय	एकचत्वारिंश-च्छत	एक सौ इकतालीस.
३०	—इगसअ	एकशत	एक सौ एक.
१७	—इगसी	एकाशीति	इक्यासी.
४	—इगहिय-सय	एकाधिकशत	एक सौ एक.
१४	—इगारसय	एकादशशत	एक सौ ग्यारह.
११	—इगेग	एकैक	एक एक.
२६	—इत्थी	स्त्री	स्त्रीवेद.
८	—इह	इह	इस जगह.

उ

१२,२३	—उच्च	उच्च	उच्चैर्गोत्र.
१२	—उच्छेअ	उच्छेद	विच्छेद.
५,१६	—उज्जोय	उद्योत	उद्योत
१३,१५,२३	—उदअ	उदय	उदय—कर्म-फल का अनुभव पृ० २
१,२१	—उदय	उदय	,,
१३	—उदीरणा	उदीरणा	उदीरणा-विपाक-काल प्राप्त न होने पर भी प्रयत्न विशेष से किया जानेवाला

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
			कर्म-फल का अनुभव
२३	उदीरणा	उदीरणा	,,
१	उदीरणाया	उदीरणाका	,,
९,२१	उरल	औदार	औदारिकशरीरना०
६	उरलदुग	औदारद्विक	औदारिकशरीर और औदारिकअङ्गोपाङ्गनामकर्म.
२,२५	उवसम	उपशम	उपशान्तकषायवीतराग-छद्मस्थगुणस्थान, पृ० २२
१९	उवसंतगुण	उपशान्तगुण	,,
९	उवंग	उपाङ्ग	अङ्गोपाङ्गनामकर्म.
३२	उवंगतिग	उपाङ्गत्रिक	औदारिकअङ्गोपाङ्ग, वैक्रियअङ्गोपाङ्ग और आहारकअङ्गोपाङ्गनामकर्म.

ऊ

२४	ऊण	ऊन	न्यून.

ए

२२,३३	एगयर	एकतर	दो में से एक.
२४	एसा	एषा	यह.

ओ

३	ओह	ओघ	सामान्य

क

११	कम	क्रम	अनुक्रम.

गा० प्रा०	सं०	हिं०
१,३,२५—कम्म	कर्मन्	कर्म. पृ० ३२
२१—कम्म	कर्मन्	कार्मणशरीरनामकर्म.
२६—कमसो	क्रमशः	अनुक्रम से.
५—कुखगइ	कुखगति	अशुभविहायोगतिनाम-कर्म.
१०—कुच्छा	कुत्सा	जुगुप्सामोहनीय.

ख

गा० प्रा०	सं०	हिं०
२८,२६—३०,३३. खय	क्षय	नाश.
३—खगइ	खगति	विहायोगतिनामकर्म.
२१—खगइदुग	खगतिद्विक	शुभविहायोगतिनाम और अशुभविहागोगति नामकर्म.
२६—खय	क्षय	नाश.
२७—खवग	क्षपक	क्षपकश्रेणि-प्राप्त.
३४—खविउं	क्षपयित्वा	क्षय कर के.
१—खविय	क्षपित	क्षय किया हुआ.
२,२०—खीण	क्षीण	क्षीणकषायवीतरागछ-ग्रस्थगु०पृ०२६
१५—खेव	क्षेप	प्रक्षेप.

ग

गा० प्रा०	सं०	हिं०
२३—गइ	गति	गतिनामकर्म.
३१—गंधदुग	गन्धद्विक	सुरभिगन्ध और दुरभिगन्ध-नामकर्म.

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
३—	गहण	ग्रहण	प्राप्ति-सम्बन्ध.
२३—	गुण	गुण	गुणस्थान. पृ० ४
१—	गुणठाण	गुणस्थान	”
१६,८—	गुणसट्ठि	एकोनषष्टि	उनसठ.

च

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
७,२२—	च	च	और.
११,२६,२७—	चउ	चतुर्	चार.
२६—	चउक्क	चतुष्क	चार का समुदाय.
२६—	चउदस	चतुर्दशन्	चौदह.
१२,३०—	चउदंसण	चतुर्दर्शन	४दर्शनावरण—चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण
५—	चउसयरि	चतुःसप्तति	चौहत्तर.
१५—	चउसय	चतुःशत	एक सौ चार.
१०,२३—	चरम	चरम	अन्तिम.
३३,३४—	चरिम	चरम	”

छ

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
७,१६ / २१,२६—	छ	षष्	छह.
३२—	छक्क	षट्क	छह का समुदाय.
६—	छप्पन्न	षट्पञ्चाशत	छप्पन.
१०—	छट्ठ	षष्ठ	छठा.

गा० प्रा०	सं०	हिं०
१०—छ्वीस	षड्विंशति	छब्बीस.
१८—छसट्ठि	षट्षष्टि	छियासठ.
१७—छस्सयरि	षट्सप्तति	छिहत्तर.
४—छिवट्ठ	सेवार्त	सेवार्तसंहननामकर्म.
११,१२, १६,१७, १८,१६, २०,३२ —छेअ	छेद	अभाव.

ज

८—जइ	यदि	जो.
७—जया	यदा	जब.
१—जह	यथा	जिसप्रकार.
८—जं	यत्	क्योंकि.
२५,२७—जा	यावत्	पर्यन्त.
४—जाइ	जाति	जातिनामकर्म.
२३,६, १०,३२, १३ —जिण	जिन	तीर्थङ्करनामकर्म.
२४—जो	यः	जो.

ठ

२५—ठिइ	स्थिति	कर्म-बन्ध की काल-मर्यादा.

त

५—त्थी	स्त्री	स्त्रीवेद.

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
२५	तइअ	तृतीय	तीसरा.
२६	तइय	तृतीय	,,
६,३१	तणु	तनु	शरीरनामकर्म
३	तत्थ	तत्र	उस में.
२३,३३	तसतिग	त्रसत्रिक	त्रसनाम, बादरनाम और पर्याप्तनामकर्म.
६	तसनव	त्रसनवक	त्रसआदि ९ प्रकृतियाँ पृ.४५
१	तइ	तथा	उसी प्रकार.
३४	तं	तं	उस को.
१२,२३	ति	इति	स्वरूप-बोधक.
१२	ति	त्रि	तीन.
५	त्ति	इति	स्वरूप-बोधक.
६	तिअकसाय	तृतीयकषाय	प्रत्याख्यानावरण.
१६	तिकसाय	तृतीयकषाय	,,
२४	तिग	त्रिक	तीन का समुदाय.
२१	तित्थ	तीर्थ	तीर्थङ्करनामकर्म
३	तित्थयर	तीर्थङ्कर	,,
१८	तियग	त्रिक	तीन का समुदाय.
२८	तियकसाय	तृतीयकषाय	प्रत्याख्यानावरणकषाय.
४,२६, २७,२८	तिरि	तिर्यच्	तिर्यञ्च.
१६	तिरिगइ	तिर्यग्गति	तिर्यञ्चगतिनामकर्म.
१६	तिरिणुपुव्वी	तिर्यगानुपूर्वी	तिर्यञ्चआनुपूर्वीना०.
२६	तिहियसय	त्र्यधिकशत	एक सौ तीन.
१०,२२	तीस	त्रिंशत	तीस.

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
२६	तुरियकोह	तुरीयक्रोध	संज्वलनक्रोध.
१६	तुरियलोभ	तुरीयलोभ	संज्वलनलोभ.
२१	तेय	तेजस्	तैजसशरीरनामकर्म
२६	तेर	त्रयोदशन्	तेरह.
३३	तेरस	त्रयोदशन्	,,
७	तेवट्ठि	त्रिषष्टि	तिरेसठ.

थ

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
१४,२८	थावर	स्थावर	स्थावरनामकर्म.
४	थावरचउ	स्थावरचतुष्क	स्थावरनाम, सूक्ष्मनाम, अपर्याप्तनाम और साधारण-नामकर्म.
४	थीण	स्त्यानर्द्धि	स्त्यानर्द्धिनिद्रा.
१७,२४	थीणतिग	स्त्यानर्द्धित्रिक	निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला और स्त्यानर्द्धि
१	थुणिमो	स्तु-स्तुमः	स्तुति करते हैं.

द

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
२०	दंसणचउ	दर्शनचतुष्क	चक्षुर्दर्शनावरण आदि ४ प्रकृतियाँ.
५	दु	द्वि	दो.
२०,३०,३१	दुचरिम	द्विचरम	उपान्त्य—अन्तिम से पहला.
३०	दुनिद्दा	द्विनिद्रा	निन्द्रा और प्रचला.
११	दुवीस	द्वाविंशति	बाईस.

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
१३,२८	दुवीस-सय	द्वाविंशति-शत	एक सौ बाईस.
३०	दुसय	द्विशत	एक सौ दो.
१६	दुहग	दुर्भग	दुर्भगनामकर्म.
४	दुहगतिग	दुर्भगत्रिक	दुर्भगनामकर्म, दुःस्वरनामकर्म और अनादेयनामकर्म.
२२	दूसर	दुःस्वर	दुःस्वरनामकर्म.
३१	देव	देव	देव.
३४	देविंद	देवेन्द्र	देवों का इन्द्र तथा श्रीदेवेन्द्रसूरि.
२,१६	देस	देश	देशविरतगुणस्थान पृ०१४

न

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
९,२६	नपु	नपुंसक	नपुंसकवेद.
३४	नमह	नम्—नमत	नमन करो.
३४	नरअणुपुव्वी	नरानुपूर्वी	मनुष्य-आनुपूर्वी.
६	नरतिग	नरत्रिक	नरगति, नरानुपूर्वी और नरायु.
२७	नरय	नरक	नरक
४	नरयतिग	नरकत्रिक	नरकगति, नरकानुपूर्वी और नरकायु.
३०	नवनवइ	नवनवति	निन्यानवे.
२०,३०	नाण	ज्ञान	ज्ञानावरण.
१२	नाणविग्घदसग	ज्ञानविघ्नदशक	पाँच ज्ञानावरण और पाँच अन्तराय कर्म.
५,१६	निअ	नीच	नीचगोत्र.

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
७	निट्ठा	निष्ठा	समाप्ति.
९,२०	निद्दुग	निद्राद्विक	निद्रा और प्रचला.
३१,१०,२१	निमिण	निर्माण	निर्माणनामकर्म.
३२	निय	नीच	नीचगोत्र.
२	नियट्टि	निवृत्ति	निवृत्तिगुणस्थान. पृ० १६
२८	निरय	निरय	नरक.
२६	निरयाउ	निरयायुस्	नरक-आयु
१४	निरयाणुपुव्वी	निरयानुपूर्वी	नरकानुपूर्वीनामकर्म.
७	नेइ	नी—नयति	प्राप्त करता है.

प

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
१७	पक्खेव	प्रक्षेप	प्रक्षेप—मिलाना.
२७	पढम	प्रथम	पहला.
३१,६,२६	पण	पञ्चन्	पाँच.
११	पणग	पञ्चक	पाँच.
२७	पणयाल	पञ्चचत्वारिंशत्	पेंतालीस.
२०	पणवन्ना	पञ्चपञ्चाशत्	पचपन
५	पणवीस	पञ्चविंशति	पच्चीस.
३१	पणसीइ	पञ्चाशीति	पिचासी.
६,२३	पणिंदि	पञ्चेन्द्रिय	पञ्चेन्द्रियजातिनाम०
३३	पणिंदिय	पञ्चेन्द्रिय	,,
१,३४	पत्त	प्राप्त	प्राप्त हुआ.
२७	पप्प	प्र+आप्—प्राप्य	प्राप्त करके.

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
२,७—पमत्त १७,२४,		प्रमत्त	प्रमत्तसंयतगु०पृ० १५
२४—पयडि		प्रकृति	प्रकृति.
२३—परं		परम्	विशेषता.
३२—परित्त		प्रत्येक	प्रत्येकनाम०
२१—परित्तत्तिग		प्रत्येकत्रिक	प्रत्येकनाम, स्थिरनाम. और शुभनामकर्म.
११—पुम		पुँस्	पुरुषवेद.
२६—पुंस		पुँस्	,,

फ

३१—फास		स्पर्श	स्पर्शनामकर्म.

ब

१,३—बंध		बन्ध	बन्ध. पृ० १
३१—बंधण		बन्धन	बन्धननामकर्म.
८—बंधंतु		बन्ध्—बध्नन्	बाँधता हुआ.
२०—बायाला		द्विचत्वारिंशत्	बयालीस.
२६—बार		द्वादशन्	बारह.
१२,३४—बारस		,,	,,
२५,२८—बिय		द्वितीय	दूसरा.
६,१५—बियकसाय		द्वितीयकषाय	अप्रत्याख्यानावरण
२६—बियालसय		द्वाचत्वारिंशच्छत	एक सौ बयालीस.
१६—बिसत्तरि		द्वासप्तति	बहत्तर.
३३—बिसयरि		,,	,,

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
	भ		
२४	भगवं	भगवान्	भगवान्
१०	भय	भय	भयमोहनीय.
६,११, २७.	भाग	भाग	हिस्सा.
१०	भेअ	भेद	विच्छेद.
	म		
५	मज्झ	मध्य	भीतर.
१६	मणु	मनुज	मनुष्य.
२३,३३	मणुय	,,	,,
२४	मणुयाउ	मनुजायुस्	मनुष्य-आयु.
२६	मय	मद	मानकषाय.
१६	माया,	माया,	मायाकषाय.
२,३,१३, १४.	मिच्छा	मिथ्या	मिथ्यादृष्टिगु० पृ० ५.
४,१४	मिच्छा	मिथ्या	मिथ्यात्वमोहनीय
२,५,१५	मीस	मिश्र	सम्यग्मिथ्यादृष्टि गु० पृ० १२
१३,१५	मीस	मिश्र	मिश्रमोहनीय.
	य		
३३	य	च	पुनः, फिर.
	र		
१०	रइ	रति	रतिमोहनीय.
३१	रस	रस	रसनामकर्म.
१९	रिसहनारायदुग	ऋषभनाराचद्विक	ऋषभनाराचसं० और नाराचसंहनन.

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
		ल	
२५	लद्ध	लभ्—लब्ध	प्राप्त.
३०	लोह	लोभ	लोभकषाय.
		व	
२३	व्व	इव	समान.
७,३२	व	वा	अथवा.
६	वइर	वज्र	वज्रऋषभनाराच सं०
३	वज्जं	वर्ज-वर्ज्ये	छोड़कर
१०	वराण	वर्ण	वर्णनामकर्म.
३४	वंदिय	वन्द्—वन्दित	वन्दन किया हुआ.
३१	वन्न	वर्ण	वर्णनामकर्म.
२१	वन्नचउ	वर्णचतुष्क	वर्णनाम, गन्धनाम, रसनाम और स्पर्शनाम-कर्म.
३२,३४	वा	वा	अथवा.
२७	वि	अपि	भी
१६	विउवट्ठ	वैक्रियाष्टक	देवगति आदि ८ प्रकृतियाँ पृ० ५४.
३०	विग्घ	विघ्न	अन्तराय.
१४,२८	विगल	विकल	विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय से चतुरिन्द्रियतक) जातिनामकर्म.
२५	विजिण	विजिन	जिननामकर्मके सिवाय.
२७,३४	विणा	विना	सिवाय.
६,२६,२७	विणु	विना	छोड़कर.
१३	विवाग	विपाक	फल.

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
११	विह	विध	प्रकार.
३४	वीर	वीर	श्रीमहावीर.
१	वीरजिण	वीरजिन	महावीरतीर्थङ्कर.
३	वीससय	विंशतिशत	एकसौ बीस.
७	वुच्छिज्ज	वि-उत्+छिद्—व्युच्छिद्यन्ते	विच्छेद पाते हैं.
२२	वुच्छेअ	व्युच्छेद	उच्छेद.
१३	वेयण	वेदन	अनुभव—भोग.
२२,२४	वेयणीय	वेदनीय	वेदनीयकर्म.
१८	वेयतिग	वेदत्रिक	पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद.

स

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
२३	सग	सप्तक	सात.
२०	सगवन्न	सप्तपञ्चाशत्	सतावन.
६	सगसयरि	सप्तसप्तति	सतहत्तर.
१६	सगसीइ	सप्ताशीति	सतासी.
२,२०	सजोगि	सयोगिन्	सयोगिकेवलिगु०पृ०२८
१६	सट्ठि	षष्टि	साठ.
७	सत्त	सप्तन्	सात
२६,२७	सत्तग	सप्तक	सात का समुदाय.
६	सत्तट्ठि	सप्तषष्टि	सड़सठ.
३	सत्तर-सय	सप्तदश-शत	एक सौ सत्रह.
११,१६	सतर	सप्तदशन्	सत्रह.
१३	सतर-सय	सप्तदश-शत	एक सौ सत्रह.

गा० प्रा०	सं०	हिं०
१,२५—सत्ता	सत्ता	सत्ता—आत्मा के साथ लगे हुये कर्मोंका अस्तित्व.
१०—समचउर	समचतुरस्र	समचतुरस्र सं०
३०—समअ	समय	दूसरा हिस्सा न किया जा सके ऐसा सूक्ष्म काल
२३,२४—समय	समय	,,
१५—सय	शत	सौ.
१—सयल	सकल	सब.
३१—सयोगि	सयोगिन्	सयोगिकेवलिगु०
५,१८,३२-संघयण	संहनन	संहनननामकर्म.
३१—संघाय	संघातन	संघातननामकर्म.
११—संजलण	सञ्ज्वलन	सञ्ज्वलनकषाय.
१६—संजलणतिग	सञ्ज्वलनत्रिक	संज्वलन क्रोध, मान और माया.
३२,२१—संठाण	संस्थान	संस्थाननामकर्म.
२५—संत	सत्	सत्ता.
६,२६—सम्म	सम्यच्	अविरतसम्यग्दृष्टिगु० पृ० १२
१३,१५—सम्म	सम्यच्	सम्यक्त्वमोहनीय.
१८—सम्मत्त	सम्यक्त्व	,,
१२,२२ ३२,३३ —साय	सात	सातवेदनीय.
२,५,१४—सासण	सास्वादन	सास्वादनसम्यग्दृष्टि गु० पृ० ६
२८—साहार	साधारण	साधारणना०

गा०	प्रा०	सं०	हिं०
३५	—सिद्धि	सिद्धि	मोक्ष.
६	—सु-खगइ	सु-खगति	शुभविहायोगतिना०
२२,३३	—सुभग	सुभग	सुभगनामकर्म.
६	—सुरदुग	सुरद्विक	देवगति और देवानुपूर्वी.
७,८,२८	—सुराउ	सुरायुस्	देवआयु.
३२	—सुसर	सुस्वर	सुस्वरनामकर्म.
२,११,१६३०	—सुहुम	सूक्ष्म	सूक्ष्मसम्परायगु०·पृ. २२
१४	—सुहुमतिग	सूक्ष्मत्रिक	सूक्ष्मनाम, अपर्याप्तनाम और साधारणनाम.
२२	—सूसर	सुस्वर	सुस्वरनामकर्म.
		ह	
१०	—हास	हास्य	हास्यमोहनीय.
२६	—हासछग	हास्यषट्क	हास्यमोहनीय आदि ६ प्रकृतियाँ पृ० ६२.
१८	—हासाइछक्क	हास्यादिषट्क	,,
११	—हीण	हीन	रहित.
४	—हुंड	हुण्ड	हुण्डसंस्थानना०

'कर्मस्तव' नामक दूसरे कर्मग्रन्थ की मूलगाथायें ।

तह थुणिमो वीरजिणं, जह गुणठाणेसु सयलकम्माइं ।
बंधुदओदीरणया-सत्तापत्ताणि खवियाणि ॥ १ ॥

मिच्छे सासण-मीसे, अविरय-देसे पमत्त-अपमत्ते ।
नियट्टिअनियट्टि सुहुमु-वसमखीण सजोगिअजोगिगुणा ॥२॥

अभिनवकम्मग्गहणं, बंधो ओहेण तत्थ वीससयं ।
तित्थयराहारगदुग-वज्जं मिच्छम्मि सतरसयं ॥ ३ ॥

नरयतिग जाइथावर-चउहुंडायवछिवट्ठनपुमिच्छं ।
सोलंतो इगहियसय. सासणि तिरिथीणदुहगतिगं ॥ ४ ॥

अणमज्झागिइसंघय-णचउनिउज्जोयकुखगइत्थि त्ति ।
पणवीसंतो मीसे चउसयरि दुआउअअबंधा ॥ ५ ॥

सम्मे सगसयरिजिणा-उबंधि वइर नरतिगबिअकसाया ।
उरलदुगंतो देसे, सत्तट्ठी तिअकसायंतो ॥ ६ ॥

तेवट्ठि पमत्ते सो-ग अरइ अथिरदुग अजस अस्सायं ।
वुच्छिज्ज छच्च सत्त व, नेइ सुराउं जया निट्ठं ॥ ७ ॥

गुणसट्ठि अपमत्ते, सुराउ बंधंतु जइ इहागच्छे ।
अन्नह अट्ठावन्ना, जं आहारगदुगं बंधे ॥ ८ ॥

अडवन्न अपुव्वाइम्मि, निद्ददुगंतो छपन्न पणभागे ।
सुरदुगपणिंदिसुखगइ तसनव उरल विणु तणुवंगा ॥ ९ ॥

समचउरनिमिणजिणव-एणअगुरुलहुचउ छलंसि तीसंतो।
चरमे छवीसबंधो, हासरईकुच्छभयभेओ॥ १० ॥

अनियट्टिभागपणगे, इगेगहीणो दुवीसविहबंधो।
पुमसंजलणचउएहं, कमेण छेओ सतर सुहुमे॥११॥

चउदंसणुच्चजसनाण-विग्घदसगं ति सोलसुच्छेओ।
तिसु सायबंधछेओ, सजोगिबंधंतुऽणंतो अ॥१२॥

उदओ विवागवेयण-मुदीरणमपत्ति इह दुवीससयं।
सतरसयं मिच्छे मी-ससम्मआहारजिणणुदया॥१३॥

सुहुमतिगायवमिच्छं मिच्छंतं सासणे इगारसयं।
निरयाणुपुव्विणुदया अणथावरइगविगलअंतो॥१४॥

मीसे सयमणुपुव्वी-णुदया मीसोदयेण मीसंतो।
चउसयमजए सम्मा-णुपुव्विखेवा बियकसाया॥१५॥

मणुतिरिणुपुव्विविउवट्ठ-दुहगअणाइज्जदुग सतरछेओ।
सगसीइ देसि तिरिगई-आउ निउज्जोयतिकसाया॥१६॥

अट्ठच्छेओ इगसी, पमत्ति आहारजुगलपक्खेवा।
थीणतिगाहारगदुग-छेओ छस्सयरि अपमत्ते॥१७॥

सम्मत्तंतिमसंघयण-तियगच्छेओ बिसत्तरि अपुव्वे।
हासाइछक्कअंतो, छसट्ठि अनियट्टि वेयतिगं॥१८॥

संजलणतिगं छच्छेओ, सट्ठि सुहुमम्मि तुरियलोभंतो।
उवसंतगुणे गुणस-ट्ठि रिसहनारायदुगअंतो॥१९॥

सगवन्न खीणदुचरिमि, निद्ददुगंतो अचरिमि * पणपन्ना ।
नाणंतरायदंसण-चउ छेओ सजोगि बायाला ॥२०॥

तित्थुदया उरलाथिर-खगइदुग परित्ततिग छ संठाणा ।
अगुरुलहुवन्नचउ निमि-णतेयकम्माइसंघयणं ॥२१॥

दूसर सूसर साया-साएगयरं च तीस वुच्छेओ ।
बारस अजोगि सुभगा-इज्जजसन्नयरवेयणियं ॥ २२ ॥

तसतिग पणिंदि मणुया-उगइ जिणुच्चं ति चरमसमयंतो ।
उदउ व्वुदीरणा पर-मपमत्ताई सगगुणेसु ॥ २३ ॥

एसा पयडितिगूणा, वेयणियाहारजुगलथीणतिगं ।
मणुयाउ पमत्तंता, अजोगि अणुदीरगो भगवं ॥ २४ ॥

सत्ता कम्माण ठिई, बंधाईलद्धअत्तलाभाणं ।
संते अडयालसयं, जा उवसमु विजिणु बियतइए ॥ २५ ॥

अपुव्वाइचउक्के अण-तिरिनिरयाउ विणु बियालसयं ।
सम्माइचउसु सत्तग-खयम्मि इगचत्तसयमहवा ॥ २६ ॥

खवगं तु पप्प चउसु वि, पणयालं नरयतिरिसुराउ विणा ।
सत्तग विणु अडतीसं, जा अनियट्टी पढमभागो ॥ २७ ॥

थावरतिरिनिरयायव-दुग थीणतिगेग विगलसाहारं ।
सोलखओ दुवीससयं, बियंसि बियतियकसायंतो ॥ २८ ॥

---

* "पणावन्ना" इत्यपि पाठः

तइयाइसु चउदसते-रबारछपणचउतिहियसय कमसो ।
नपुइत्थिहासछगपुं-सतुरियकोहमयमायखओ ॥ २९ ॥

सुहुमि दुसय लोहंतो, खीणदुचरिमेगसओ दुनिद्दखओ ।
नवनवइ चरमसमए, चउदंसणनाणविग्घंतो ॥ ३० ॥

पणसीइ सयोगि अजो-गि दुचरिमे देवखगइगंधदुगं ।
फासट्ठ वन्नरसतणु-बंधणसंघायपण निमिणं ॥ ३१ ॥

संघयणअथिरसंठाण-छक्क अगुरुलहुचउ अपज्जत्तं ।
सायं व असायं वा, परित्तुवंगातिग सुसर नियं ॥ ३२ ॥

बिसयरि खओ य चरिमे, तेरस मणुयतसतिग जसाइज्जं ।
सुभगजिणुच्च पणिंदिय, सायासाएगयरछेओ ॥३३॥

नरअणुपुव्वि विणा वा, बारस चरिमसमयम्मि जो खविउं ।
पत्तो सिद्धिं देविं-दवंदियं नमह तं वीरं ॥३४॥